नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५४ सं० २००६ अंक २-३

विषय सूची

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित
वार्षिक मूल्य १०) : प्रति अंक २॥)

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम संख्या
काल नं०
खण्ड

द्देश्य

...ा संरक्षण तथा प्रसार।
...ा विवेचन।
...ा अनुसंधान।
...ज्ञान और कला का पर्यालोचन।

निवेदन

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख स्वीकार्य होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है; और उनकी प्रकाशनसंबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती हैं; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

संपादक : कृष्णानंद
सहायक संपादक : पुरुषोत्तम

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५४]   संवत् २००६

हिंदी के सौ शब्दों की निरुक्ति

[श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

हिंदी भाषा का निरुक्त कोष अभी नहीं बना। हिंदी शब्दसागर बहुत ही भारी प्रयत्न था, किंतु शब्दों के निर्वचन की दृष्टि से वह आरंभिक था, और बहुत त्रुटिपूर्ण भी। इस समय हिंदी भाषा के आदि विकास की जो सामग्री अपभ्रंश साहित्य के रूप में प्राप्त हो गई है वह शब्दसागर के निर्माताओं को अज्ञात थी। लगभग नवीं शती से बारहवीं शती तक सिद्ध लोगों ने और जैन कवियों ने अपभ्रंश में कविता की और सौभाग्य से उसका अधिकांश भाग आज प्रकाश में आ गया है। हिंदी का प्रत्येक शब्द अपभ्रंश की चक्की में पड़ा और वहाँ से कुछ नया कुछ पुराना चोला लेकर बाहर आया।

अपभ्रंश ने उत्तरी भारत की राष्ट्रीय साहित्य-भाषा का पद ग्रहण कर लिया था। प्रत्येक प्रांत की बोली को विकास की उसी अवस्था में से पार होना पड़ा है। पुरानी हिंदी, पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी बंगला, पुरानी मैथिली, पुरानी मराठी और पुरानी पंजाबी—इन सबका जो अपभ्रंशकालीन (९ वीं—१२ वीं शती) रूप है उसमें आज की बोलियों की अपेक्षा परस्पर साम्य अधिक है। उन भाषाओं के विकास की ठीक परंपरा का परिचय और ज्ञान उनके अपभ्रंशरूप का ज्ञान किए बिना नहीं हो सकता। न केवल शब्दों बल्कि अनेक मुहावरों, लोकोक्तियों के बीज अपभ्रंश काल में हैं और इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि साहित्यिक अभिप्रायों (मोटिफ) का आरंभ भी अपभ्रंश साहित्य में पाया जायगा। उदाहरण के लिये रामचरितमानस के आरंभ में गोस्वामीजी ने देवता और गुरु की वंदना करने के अनंतर ही सज्जन-

दुर्जन लक्षण कहे हैं। प्रबंध काव्यों की यह साहित्यिक परंपरा भविसयत्तकहा आदि अपभ्रंश काव्यों में पाई जाती है। हो सकता है इसका बीज और भी पुराना हो। कालिदास ने रघुवंश में सत्काव्य की परख करनेवाले अग्नि-समान संतों का और कवि के प्रयत्न की खिल्ली उड़ानेवाले दुर्जनों का उल्लेख किया है। उसे स्पष्ट विस्तार के साथ बाणभट्ट ने कादंबरी में 'कटु क्वणन्तो मलदायका खलाः' इत्यादि वर्णन में कहा है। आठवीं शती के बाद उत्तरोत्तर इस काव्य-प्रथा का विकास हुआ और कई अपभ्रंश प्रबंध काव्यों में इस अभिप्राय का बहुत ही सुंदर समावेश पाया जाता है। इसी प्रकार वाटिका में तालाब और मंदिर के पास नायक-नायिका के प्रथम दर्शन का अभिप्राय, जैसा बालकांड में पाया जाता है, अपने पूर्ववर्ती काव्यों के अभिप्रायों से लिया गया है; संस्कृत रामायण में उसका कोई उल्लेख नहीं है। हिंदी भाषा की अनेक जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिये हमें अपभ्रंश काव्यों तक अविलंब जाना चाहिए और हिंदी की ऊँची परीक्षाओं में अपभ्रंश ग्रंथों को अनिवार्य पाठ्य विषय बनाना चाहिए। अपभ्रंश भाषा का जितना साहित्य अबतक खोज से मालूम हुआ है उसकी शब्द-सूची बनाना हिंदी की शब्द-निरुक्ति के लिये अत्यंत आवश्यक है।

अपभ्रंश भाषा तो हिंदी का केवल एक स्रोत है। हिंदी भाषा उस समुद्र-जलराशि की तरह है जिसमें अनेक नदियाँ मिली हों। निषाद, शबर, हो, उराँव, आदि मुंडा भाषाओं ने हिंदी को अनेक शब्द दिए हैं। मूर्धन्य अक्षरवाले अधिकांश शब्दों की जन्मभूमि मुंडा भाषाओं की तह है। द्रविड़ भाषाओं का संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से बहुत आदान-प्रदान हुआ। अट्ट, अलस, कंक, कवरी, कवल, कूट, कूर्पर, पुट, अरविंद, मृणाल आदि शब्द द्रविड़ भाषा से लिए गए। संस्कृत में आए हुए प्रत्येक शब्द की साहित्यिक आयु की बारीक छानबीन करनी होगी। श्री टी० बरो ने संस्कृत में द्रविड़ शब्दों की व्युत्पत्ति के संबंध में कई लेखों में अच्छी सामग्री एकत्र की है (ट्रैंजैक्शंस् ऑव दि फाइलोलॉजिकल सोसाइटी, १९४५, 'सम द्रैविडियन वर्डस् इन संस्कृत', पृ० ७९–१२०)।

ठेठ देश्य भाषाओं या बोलियों में उत्पन्न हुए अनेक शब्द हिंदी में चालू हैं। हेमचंद्र ने अपने समय के कुछ शब्दों का संग्रह देशीनाममाला कोष में किया था; उनमें से कितने ही शब्द आज भी जीवित हैं। परंतु हेमचंद्र का काम बहुत ही सीमित था। उससे हजारों गुना काम हिंदी की एवं अन्य भाषाओं की बोलियों से

हमें करना है। अभी तक इस देश में बोलियों के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर प्रायः कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। उच्चारण, व्याकरण, शब्दावली—इन तीन दृष्टियों से बोली का अध्ययन किया जाना चाहिए। बोलियाँ भाषाओं की जीती-जागती प्रयोगशालाएँ हैं। वहाँ उच्चारण बदल रहे हैं, पहले उच्चारण जो बड़े-बूढ़ों के मुख में थे, खड़ी बोली के प्रभाव से बदले जा रहे हैं। पुराने ठेठ शब्दों की संख्या घट रही है। बूढ़, जवान, बालक इन तीन पीढ़ियों में एक साथ एक ही बोली का अध्ययन किया जाय तो बोली का बदलना हुआ चोला साफ दिखाई पड़ेगा। बड़े-बूढ़ लोगों (५०–७० वर्ष) का उच्चारण और शब्दभंडार बोली की सच्ची दशा को प्रकट करेगा। जवानों (२०–४० वर्ष) की भाषा पर कुछ कुछ बाहर के प्रभाव देखे जायँगे। नए स्कूलों में शिक्षा पानेवाले बालक शीघ्रता से अपनी शब्दावली और पुराने उच्चारण खोते जा रहे हैं।

यूरप में बोलियों के अध्ययन के लिये विश्वविद्यालयों में रीडरशिप की स्थापनाएं की गई हैं, इंग्लैंड में भी इंग्लिश डायलेक्ट सोसाइटी और फाइलोलोजिकल सोसाइटी के प्रोत्साहन और निरीक्षण में बोलियों के अध्ययन का बहुत मूल्यवान् काम हुआ है, जिससे अंग्रेजी भाषा के कितने ही शब्दों और व्याकरण के प्रश्न सुलझाए जा सके हैं। यार्कशायर की एक बोली में रश (= नाम) का उच्चारण रस्क होता है, उसमें अपत्यवाची 'इन्‌ज्' प्रत्यय लगाने से रस्किन नाम सिद्ध होता है। इसी प्रकार बर्च (वृक्ष का नाम) का उच्चारण बर्क है जिससे अंग्रेजी मनुष्य-नाम बर्क बनता है। भारतीय बोलियों में शब्दों की निरुक्ति तथा मनुष्य-नाम और स्थान-नामों की व्युत्पत्ति की अपरिमित सामग्री भरी हुई है। छज्जू, छीतर, पिलकू, पवारू, सुल्लू, मूधा, नौधा, बीधा आदि नाम बोलियों में जीवित हैं, वहीं से इनका निर्वचन मिलेगा। जैसे छज्ज् धातु (शोभित होना) से छाज और उससे छज्जुक, छज्जू रूप बनते हैं। स्थान-नामों के विषय में तो अभी कुछ हुआ ही नहीं है। पिप्पलपद्र से पिपलौदा, वटपद्र से बड़ोदरा आदि नाम वृक्षों से बने हैं। उत्तरी भारत में वृक्षों से बननेवाले नाम कितने हैं और उनमें कौन कौन से उत्तरपद जोड़े जाते हैं, इसका अध्ययन होना चाहिए। गाँव, खेड़ा, पुरवा, नगला आदि उत्तरपद क्या और कब से हैं, अथवा नामों का जमघट कहाँ है, कथांत नामों का ऐतिहासिक कारण क्या है? इस प्रकार के प्रश्नों का समाधान स्थान-नामों के क्रमबद्ध अध्ययन से ही हो सकता है। अंग्रेजी प्लेसनेम सोसाइटी के ढंग पर प्रांतवार यह काम निपटाना चाहिए। तब हम जानेंगे कि शबर, निषाद, गोंड, द्रविड़, आर्य, शक, हूण, तुर्क, ईरानी, अरबी

यूरोपीय अनेक जातियों ने स्थान-नामों के रूप में कितनी अधिक सामग्री पीछे छोड़ी है।

कुर्सी एक कस्बे का नाम है वह अरबी कुर्सी (प्रधान नगर, राजधानी) से निकला है। कोच (झाँसी के निकट) तुर्की शब्द कोच (भेड़) से निकला जान पड़ता है। उसी के पास का एरच भी एरकच्छ या एड़कच्छ (भेड़ों का जंगल) से बना है। उरई भी उरभ्र या उरभ्रिका से जान पड़ता है। बालबेहट, तालबेहट का 'बेहट' (गाँव) गोंड भाषा का शब्द है। फफूंद निषाद भाषा का नाम जान पड़ता है। मुंडारी में फुफुंड, फोफुड का अर्थ फफूंदा हुआ है, जिससे हिंदी की 'फफूँडना' धातु बनती है। संथाली में फुपंड का अर्थ है मैला, गँदला। लखनऊ के पास का भोंडरी गाँव संथाली भोंडरों (चौड़ा गड्ढा) शब्द से जान पड़ता है। निगोहाँ संस्कृत न्यग्रोधग्राम, प्राकृत निगोहगाम से बना है। सरसैयाघाट संस्कृत सरस्वतीघाट, प्राकृत सरस्सइ० से बना हुआ है और बहराइच सं० बृहदादित्य, अपभ्रंश बहड़आइच्च से। स्थान-नामों और मनुष्य-नामों का विशेष वैज्ञानिक अध्ययन भारतीय इतिहास, शब्दविज्ञान और लोकवार्ताशास्त्र, तीनों के लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

तुर्की, पश्तो, पहलवी, फारसी के अनेक शब्द मुसलमानों के संपर्क से हिंदी को विरासत में मिले हैं। उनकी पहचान और निरुक्ति अत्यंत आवश्यक और रोचक विषय है। चाकू, चिलमची (तुर्की चिलपचा), फाख्ता, तोशक, तुक्मा (बटन) अल्लमगल्लम आदि शब्द तुर्की से फारसी के द्वारा आकर हिंदी की बोलियों में घुल-मिल गए हैं। अट्टी, अटेरन, उजबक, टकटकी, भटर-भटर, चपकचुंधी, चाकचौबंद, बचूँगड़ा, बखेड़ा, माँझी, धींग, डाकर (कड़ी धरती), ढूडी (तिरक, रीढ़ और कूल्हे के बीच का जोड़), दबका, ढाँढा (छोटा कुआँ) आदि अनेक शब्द पश्तो भाषा से अफगान युग (१२००–१५५० ई०) में आकर हिंदी में दाखिल हुए। प्रत्येक शब्द की उत्पत्ति और विकास की पहचान अलग अलग करनी होगी। शब्द उधार देनेवाली भाषा का संपर्क हिंदी से कब हुआ और हिंदी में शब्द की आयु कितनी पुरानी है, कहाँ पहले-पहल शब्द ने हिंदी में प्रवेश किया, इत्यादि प्रश्न प्रत्येक शब्द के साथ जुड़े हुए हैं जो हिंदी के भावी निरुक्त शास्त्र में उत्तर की अपेक्षा रखेंगे।

हिंदी भाषा में शब्दों की जो तहें या परतें जमी हुई हैं उनकी भी कुछ विशेषताएँ हैं। भूमि संबंधी वस्तुओं के नाम जैसे धरती, पहाड़, गड्ढे, नदी आदि के शब्द

अधिकांश में मुंडा-शबर भाषाओं से लिए गए होने चाहिएँ। औषधि-वनस्पति, फूल-फल के वाचक शब्द निषाद और द्रविड़ भाषा की मिली-जुली तह को सूचित करेंगे। अंग्रेजी भाषा में शब्दों की जमी हुई तहों की अच्छी तरह परख की गई है। वहाँ कैल्ट, लातिन, सैक्सन, डेनिश, नार्मन, पुनः लातिन, फ्रेंच आदि भाषाओं की परतें जमी हुई हैं। जीवन का जो साधारण ठाट है, अतएव भाषा की जो सामान्य गठन है, वह सैक्सन भाषा से ली गई है। हिंदी में यह आधार संस्कृत भाषा का है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, भूमि, जल, अग्नि, वायु आदि से संबंधित शब्द अंग्रेजी में सैक्सन भाषा के और हिंदी में संस्कृत भाषा के हैं। इसी प्रकार पारिवारिक-संबंध जैसे माता, पिता, पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री, भाई आदि के सूचक शब्द अंग्रेजी में सैक्सन भाषा के और हिंदी में संस्कृत के हैं। खेती-बाड़ी की अधिकांश शब्दावली संस्कृत में आई हुई है।

हिंदी की कृषि-शब्दावली प्रायः वही है जो ऋग्वेद और अथर्ववेद के समय में थी। अभी तक इस शब्दावली का व्यवस्थित संकलन और अध्ययन नहीं हुआ। हल, हरस (हलीषा), कुआँ (कूप), बरत (वरत्रा), खेत (क्षेत्र), क्यार (केदार), जुताई-बुआई, लवना-मण्णी, आदि के शब्द अत्यंत रोचक हैं और उनकी परंपरा की प्राचीनता आश्चर्यजनक है। खेत काटनेवाले के लिये लावा, कपटा सं० लावक, क्लुमा का स्मरण दिलाते हैं। कुएँ की नैचक संस्कृत नाभिचक्र और नैचिकी गाय संस्कृत नैत्यिकी (वैदिक नित्यवत्सा) है। खेत की जुताई के शब्द भी संस्कृत से निकले हुए मिलेंगे। अन्न की रास (राशि), खलिहान (खलधान), पैर (प्रकर) संस्कृत के हैं। बैलों की नाथ, पगहा (प्रग्रह), रास (रश्मि) संस्कृत भाषा की देन हैं। हसिया के लिये श्रौतसूत्रों में असिद शब्द आया है। साहित्य में उसका प्रयोग नहीं मिलता, पर हेमचंद्र ने असिअ शब्द को दाँवो के लिये देशी कहा है (देशी नाममाला १।१४)। वस्तुतः वह वैदिक है। सं० दात्र से दराँत या दराँती बना है। यास्क ने लिखा है कि दराँती के लिये उत्तर भारत के लोग दात्र और पूरब में दाति शब्द का प्रयोग करते थे (दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु, निरुक्त नैगमकांड २।१।२)। आज तक यह बात ठीक है। पछाँही हिंदी में दराँती, पंजाबी में दातरा और पूरबी में दाई या दाव कहते हैं।

लगभग हजार वर्ष पहले भारत में मुसलमानों ने आकर अरबी-फारसी के शब्द हमारी भाषा में डालना आरंभ किया। मान-प्रतिष्ठा, शानशौकत, दरबार-कचहरी, सवारी-शिकार, पहनने-ओढ़ने से संबंध रखनेवाले शब्द फारसी-अरबी से आकर

हिंदी में मिलने लगे। राजसत्ता में जिनका अधिकार था उन्हीं के शब्द जनता में आने लगे। अंग्रेजी जीवन में ठाट-बाट और पद-मर्यादा के जो शब्द हैं वे नार्मन-विजय के बाद अधिकांश नार्मन भाषा के ही हो गए। ऐसे ही हिंदी में महल, किला, युद्ध, हथियार संबंधी शब्द भी अरबी फारसी से आ गए। परंतु घर, छप्पर, चूल्हा, चक्की के शब्द पुरानी परंपरा को लिए रहे। खाने-पीने के शब्द जैसे घी-दूध, भात, गेहूँ, तेल, साग, भाजी आदि अपनी प्राचीन संस्कृत-प्राकृत की परंपरा को सुरक्षित रखने में समर्थ हुए। गाँव का सीधा-सादा खेतिहर, किसान, गँवार, गँवई, घामड़ वे लोग शहर के नए जीवन में उपेक्षित हुए और अपनी प्रतिष्ठा गँवा बैठे। अंग्रेजी के चर्ल, बूर, हेथेन शब्द भी पुरानी भाषा के थे जो नार्मन लोगों के दरबारी ठाट-बाट के सामने तिरस्कृत हो गए। हिंदी में भी पुराने पदों का मान घट गया। दीवान, मुंशी, काजी, अमीर आदि नए पद अस्तित्व में आ गए। तुर्की का बातुर-बहादुर सारे देश में चल गया।

इधर पिछले तीन सौ वर्षों में पहले पुर्तगाली, अंग्रेजी शब्दों ने हिंदी में प्रवेश पाया। बाल्टी, मेज, मिस्तरी, काज, बुताम, नीलाम, गिरजा, पादरी आदि शब्द पुर्तगाली भाषा से हमारी प्रांतीय भाषाओं को प्राप्त हुए। 'पोर्चगीज वाकेबिल्स इन एशियाटिक लंग्वेजेज' (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज) नामक पुस्तक में इस विषय की पूरी छानबीन की गई है। अंग्रेजी के प्रभाव से हजारों की संख्या में नए शब्द हिंदी में चल गए हैं और अभी तक वह प्रवाह जारी है। जब अंग्रेजी का कंटक हटकर हिंदी राष्ट्रभाषा पूरी तरह चालू हो जायगी तभी हिंदी का अपना स्वरूप धड़ल्ले से चल सकेगा। उस समय अंग्रेजी शब्द पुरातत्त्व के चिह्नों की तरह भाषा में पड़े पाए जायँगे।

इसी प्रसंग में उदाहरण-स्वरूप हिंदी भाषा में प्रचलित लगभग सौ शब्दों की निरुक्ति नीचे लिखी जाती है जो उनपर नया प्रकाश डालती है। इन शब्दों को अक्षरानुक्रम से रखा गया है।

अँकवार—गोद। सं० अंकपालिका > अंकवालिया > अंकवारि > अँकवार।

अगुआ—आगे रहनेवाला। संस्कृत अग्रपद (यत्र अष्टावक्रः ऋषीणामग्रपदः, दिव्यावदान) > अग्गवय > अग्गउअ > अगुआ, अगुवा।

अपाहिज—सं० अपभंज, प्रा० अपहंज (शब्दसागर)। पर यह व्युत्पत्ति चिंत्य है। अपाहिज का मूल सं० अपाथेय है, अर्थात् जो पथ में यात्रा के अयोग्य हो।

पथिसाधुः पाथेयः, न पाथेयः अपाथेयः । अपाथेय > अपाहेज्ज > अपाहिज्ज > अपाहिज । पाही धरती वह कहलाती है जो गाँव से दूर हो, जहाँ चलकर जाना पड़े । पहिया भी पथ से जान पड़ता है—पथ्य > पह्य > पहिय + क > पहिया । अपभ्रंश में थ का ह होता है; इसका विशेष उदाहरण नीचे के शब्द में है ।

अलइक पलवा—झूठ, गप । सं० अलीक प्रलाप से बना शब्द ज्ञात होता है । पाइयलच्छिनाममाला, श्लोक २०८ में अलिय पोरुसालाव = अलीक पौरुषालाप शब्द आया है ।

आँय बाँय साँय—अंटसंट बात, असंबद्ध प्रलाप । शब्दसागर में इसे अनुकरणात्मक शब्द लिखा है । वस्तुतः यह सं० अतिपात-शांति से बना है । यह जैन धर्म का शब्द है । जैन आगमों में अतिपात का अर्थ है हिंसा; अर्थात् नित्य के जीवन में अनजाने होनेवाली हिंसा अतिपात हुई (पाइय सद्द महण्णव, पृ० ४-५) । उसकी शांति के लिये जो व्रत-उपवास पंडित-पाधा बताते थे वह अतिपात शांति या आतिपात्य शांति कहलाता था । लोक में इसी के लिये 'आए बाए' शब्द भी था जो मेरठ की बोली की एक लोकोक्ति में रह गया है—'आए बाए बनिए बताए', अर्थात् आएबाए बताकर बनिए-जजमानों को बहला दिया । आतिपात्य शांति का अपभ्रंश में आइ-बाइ-साँइ > आय-बाय-साँय > आँय बाँय साँय हुआ ।

आईन—पहलवी आयोन (नियम, व्यवहार को व्यवस्था, कायदा), फारसी आयीन, जंद अयन, सं० अयन, (मार्ग, रास्ता) ।

आवन्नाल—तुरंत के हुए बच्चे की नाभि में लगी हुई लंबी नाल और उस नाल के दूसरे सिरे पर लगा हुआ जरायु 'अपरा' कहलाता है । नाभि के पास से नाल-छेदन या नाभि-वर्धन को लोक में नाल काटना कहते हैं । आवन्नाल शब्द सं० अपरा + नाल से बना है । चरक ने जरायु के अर्थ में अपरा शब्द का प्रयोग किया है । पारस्कर गृह्य-सूत्र (१।१६।२) की टीका में कर्काचार्य ने 'अवरेति जरायु-विशेषः' लिखा है । अपरा-अवरा-अवर-आँवर + नाल > आँवन्नाल (बोली में) ।

उकेरी, उकेरना—नक्काशी, नक्काशी करना । सं० उत्कॄ धातु से उत्किरति > उकिरइ बनेगा । खड़ी बोली में यह शब्द मर गया और उसकी जगह नक्काशी चल गया, पर बोलियों में जीवित रहा । जौंसार बावर की बोली में मुझे उकेरी, उकेरना दोनों शब्द मिले । सं० उत्कीर्य, प्रा० उक्कारिऊण (कर्पूरमंजरी ३।१७) । उकिर से उकइर, उससे उकेर बनेगा ।

ऐंडा बैंडा—शब्दसागर में बैंड़ी ऐंड़ी से व्युत्पत्ति दी है जो निरर्थक है। ऐंड शब्द संस्कृत अकांड से निकला है। अकांड > अयंड > अइंड > ऐंड। विकांड > वियंड > वइंड + क > बैंडा। अर्थात्, वह स्थिति जिसमें कांड या रीढ़ न हो, या टेढ़ी हो। खड़े हुए का उल्टा ऐंड हुआ। बहीखाते में मुहावरा चलता है—रकम खड़ी होना (जो वसूल हो सके), रकम ऐंड हो जाना (जो पट्ट खाते या डुबाऊ खाते में आ जाय)। इसी से ऐंडना धातु बनी है।

औल फौल— अंड बंड बकवाद। सं० आकुल-व्याकुल, आउल-बाउल, औल-बौल, औल-फौल।

कचहरी—शब्दसागर में इसकी निरुक्ति कच + हरी से बताई गई है। वस्तुतः अदालत के लिये यह प्राक् मुसलिमकाल का शब्द जान पड़ता है। सं० कृत्य-गृहिका > किचहरिया > कचहरी।

खटोला—छोटी खाट। खाट + ओला (शब्दसागर)। खट्वा से 'ओला' प्रत्यय लगाकर खटोला सिद्ध करना तो ठीक है, किंतु ओला प्रत्यय वस्तुतः पोतलक का अवशिष्ट रूप है। खाट का बच्चा खटोला हुआ। बन अर्थात् कपास का बच्चा बनौला या बिनौला। साँप का बच्चा सर्पपोतलक-सप्पोलय-सपोलया-सपोलिया हुआ। गन्ने के बच्चे या छोटे गन्ने को आज तक बोलियों में पोया कहते हैं जो सं० पोतक से निकला है। उसी तरह गेहूँ के छोटे पौधे को, जब तक उसमें नरिया न पड़े, 'खुद' (सं० क्षुद्र) कहते हैं। अगौला पोया गन्ने का अग्रभाग हुआ, अतएव अग्र + पोतलक से अग्ग + ओलअ = अगौला बना। चिड़ौला भी चटक + पोतलक, चड़अ + ओला, चड़ौला, चिड़ौला क्रम से बनता है।

खीस—इस शब्द के भी भिन्न अर्थ और भिन्न व्युत्पत्तियाँ हैं। यथा—

(१) दाँत, जिन्हें कीलें कहते हैं। जैसे खीस निकालना, इस प्रकार हँसना जिसमें कीलें दिखाई पड़ें। खिसिआना भी इसी मूल अर्थ से निकलता है, अर्थात् लज्जित होने की वह स्थिति जिसमें दोनों खीसें बाहर आ जायँ। यह खीस शब्द फारसी से निकला है। फा० खीश = हल में लगनेवाली फाली, कील, या नुकीली शंकु। उसी की तरह के नुकीले लंबे दाँत खीस कहलाते हैं। जंगली सुअर के निकले दाँतों को भी खीस कहते हैं। संक्षिप्त शब्दसागर में इसे कीश = बंदर से माना है; शब्द-निरुक्ति की दृष्टि से वह अशुद्ध है।

(२) गाय भैंस के व्याने के बाद पहले कई दिनों तक थनों में से निकलने वाला दूध या पेवसी, जो औटाने से फट जाती है। वस्तुत: लोक में मुहावरा यही है- 'थन की खीस काढ़ना या कील निकालना।' यहाँ भी अर्थ यद्यपि भिन्न है, पर मूल शब्द वही है, फा० खीस अर्थात् कील। गाय के थनों में बहुत दिन तक दूध न निकालने से जो कील जैसी ठुक जाती हैं उन्हें प्रथम दोहन के समय खींचकर निकालना 'खीस निकालना' कहा जाता है।

(३) शब्दसागर के अनुसार खीस का एक अर्थ है बरबाद, नष्ट। जैसे 'सती मरन सुनि संभुगण करन लगे मख खीस'। शब्दसागर ने इसे सं० किष्क से निकला माना है, पर मुझे इस प्रकार का कोई शब्द 'आप्टे' या अमरकोष में नहीं मिला, और न अन्यत्र ही दिखाई पड़ा। मेरी समझ से इस अर्थ में हिंदी खीस सं० कृश > किस्स > कीस से निकला जान पड़ता है। कृश्यति तुदादिगणी धातु से किस्सइ, खिस्सइ (दुबला होना, छीजना) रूप होंगे।

(४) जेब के अर्थ में खीसा शब्द फा० कीसा से निकला है, जैसा शब्दसागर में दिया है। खेस एक कपड़े का नाम है जो फा० खेश (एक प्रकार का छालटीन) से बना है।

(५) प्रसन्नता के अर्थ में खीझ से खीस की व्युत्पत्ति शब्दसागर में दी है, वह भी ठीक नहीं है; खीस का यह अर्थ भी फैलन आदि कोषों में नहीं है। खीझ की व्युत्पत्ति खिद् दैन्ये धातु के खिद्यते, खिज्जइ, खीजइ, खीझइ क्रम से है।

खेवनिहारा—नाव को खेनेवाला। सं० क्षेपणी (नौकादण्ड: क्षेपणी स्यात्, हेमचंद्र ३।५४१)-धारक, खेवनिहारा।

खोंपा—जूड़ा, बँधी हुई वेणी। जायसी ने इस शब्द का प्रयोग किया है—

सरवरि तीर पदमिनी आई।
खोंपा छोरि केस मुकलाई॥ पद्मावत ४।४।१

यह द्रविड़ भाषा का शब्द है। तामिल कोप्पु = बालों का जूड़ा; कन्नड़ कोप्पु; कुइ भाषा, कोप (स्त्री का जूड़ा); कुर्कु भाषा, खोपा = बालों का बँधा जूड़ा। प्राय: सभी भारतीय आर्य भाषाओं में यह शब्द पहुँच गया है (टी० बरो, द्रैविडियन वर्डस् इन संस्कृत, ट्रैन्जैक्शन्स फाइलोलॉजिकल सोसाइटी, १९४५, पृ० ९१)।

खोज, खोजू—पैर के निशान। क्षोद > खोज्ज > खोज।

खोया—संक्षिप्त शब्दसागर में क्षुद्र से खोया बनाया है जो असंभव है। सं० क्षोद-खोय+क=खोया।

गँवई—गाँव का मनुष्य, गँवार। प्राकृत ग्रामेयिक (ल्युडर्स लेख-सूची १३२७, पल्लव महाराज विजयास्कंधवर्मन् के समय का ताम्रपत्र)>गाँवेइअ>गँवेई> गँवई (गाँव-संबंधी)।

गपतालीस—लोकोक्ति है, 'जहाँ चालीस वहाँ गपतालीस'। इसी का गढ़-वाली रूप है 'जाँ चालीस ताँ ववतालीस'; अर्थात् जहाँ चालीस, वहाँ इकतालीस (भी दिए जा सकते हैं)। ववतालीस या गपतालीस शब्द एकोपचत्वारिंशत से निकला है। पाणिनि सूत्र उपोऽधिके च (१४।८७) से 'अधिक' के अर्थ में एक जोड़कर एकचत्वारिंशत् बना, उससे एगोवचा (ता)-लीस, गवतालीस, ववतालीस अथवा गपतालीस सहज में बन सकता है।

गरब गहीली--गर्वीली। गरब गहीली में 'गहीली' की व्युत्पत्ति गहिल्लक (भूत-प्रेत से गृहीत, बृहत्कथा कोष १७।१०)>गहीला, स्त्री० गहीली जान पड़ती है। गृहीत का प्राकृत-अपभ्रंश रूप गहिल्ल हुआ।

गलसुई—गालों के नीचे रखने का एक छोटा गोल और कोमल तकिया, सं० गालसुई (शब्दसागर)। गालसुई की व्युत्पत्ति तो ठीक है पर सुई का क्या अर्थ है, यह स्पष्ट नहीं किया गया। प्राचीन स्तूपों के चारों ओर पत्थर की चार-दीवारी के प्रति दो खंभों के बीच में आड़े पत्थर लगते थे, जिन्हें संस्कृत में सूची कहते थे; प्राकृत में सुई और अँग्रेजी में क्रास-बार कहते हैं। फारसी में आज भी उसके लिये तकिया शब्द है ; क्योंकि वह आकार में तकियानुमा होती है। सूची शब्द का वह विशेष अर्थ केवल गलसुई शब्द में बच गया जान पड़ता है। सूची के आकार का तकिया चौकोर होता होगा। गोल चिपटे तकिए के लिये प्राचीन समय में एक दूसरा शब्द था मसूरक, अर्थात् आकृति में मसूर की दाल जैसा।

गाई, गैया, गोई—पतंजलि ने भाष्य में एक गौ शब्द के गावी, गोणी, गोती, गोपोतलिका इत्यादि लोक में चालू अपभ्रंश रूपों का उल्लेख किया है। गाई का मूल गावी, गोई (बैलों की जोड़ी के लिये प्रयुक्त शब्द) का गोती और गैया का गविका (गाइआ, गाइया, गैया) था।

गुठला—अँगूठे का गहना। सं० अंगुस्थल (पृथ्वीचंद्रचरित्र अथवा वाग्विलास, पृ० १४९)>अंगुट्ठल+क=अंगुठला>गुठला।

गुनरखा—मस्तूल । सं० गुणवृक्षक, गुनरुक्खक, गुनरखा । वह दंड जिसमें नाव की गून (सं० गुण, वह पतली लंबी रस्सी जिससे नाव को उजानी या बहाव के प्रतिकूल खींचते हैं) बाँधी जाती है।

गुहेरी—अंजनिआरी, आँख में निकलने वाली फिलनी । सं० गौधेरिका> गुहेरिआ>गुहेरी । शब्दसागर में यह शब्द तो नहीं है पर गुहेरा (गोह नाम का कीड़ा) सं० गोध से निकला हुआ माना है। वस्तुत: गुहेरा गोधा से नहीं गौधेरक से बन सकता है । गोधा शब्द में 'एरक' प्रत्यय जोड़कर गौधेरक बना और उससे गुहेरा। इसी को मेरठ की तरफ अंजनिआरी कहते हैं जो सं० अंजनकारिक से बना है।

घाँटी—कउआ, टेंटुआ। सं० घंटिका (अभिधानचिंतामणि ३।२४९), >घंटिआ>घाँटी। इसी को काकलक (अभिधान० ३।२५२) भी कहा है जिससे हिंदी कागला बनेगा । आज तक बोलचाल में इसे काग कहते हैं। इसीका दूसरा नाम है कौआ जो सं० ककुत्, अप० कउअ से बना है। इसी कारण काक और ककुत् पर्यायवाची हो गए और पक्षीवाची काक के लिये भी कौआ प्रयुक्त होने लगा, अन्यथा किसी संस्कृत कोष में काक पक्षी के लिये ककुत् शब्द का प्रमाण नहीं है।

घुँघची—रत्ती, गुंजा (हिंदी शब्दसागर)। वस्तुत: गुंजाचिंचिका से गुंज चिंचिआ=गुंज चिंची>गुंगची>घुंगची>घुँघची। कुछ के अनुसार कन्नड़ गुरु गंजि, गुरु गुंजि, गुंजि से हिंदी में घुँघची की अनुकृति हुई है (लंदन प्राच्य-विद्यालय पत्रिका, १२।३७३)।

घुटुरुआँ—घुटनों के बल चलना। सं० घुंट-(घोंटा) रूपेण>घुंटरुएन> घुटरुअन>घुटरुआँ।

चकवंड—सं० चक्रमर्दक>चक्कमड्ड>चकवंड। मर्द द्रविड़ भाषाओं में वृक्षवाची मरद का रूप है। कन्न० मर, पञ्जी मरद। तामिल मरम् वृक्ष, पञ्जी मरत्तु। यह मर्द उत्तरपद जोड़ने से कासमर्दक कसौंदा, करमर्दक>करौंदा, पिचुमर्द आदि शब्द बनते हैं (लंदन प्राच्य-विद्यालय पत्रिका, १२।३७८)।

चकैंडी—वह हाँडी जिसमें कुम्हार चाक के पास पानी भरकर रखता है। चक्रभांडिका>चक्कहंडिया>चकइंडिआ>चकैंडी। एक प्रकार से एंडी प्रत्यय ही बन गया था जो और कितने ही शब्दों के पीछे आता है। कांस्यहंडिका) कसैंडी। दधि हंडिका=दहेंडी। मथितहंडिका=महिअहंडिका=माहीहंडिका=महेड़ी। घृत-

हंचिका=घेंडी। क्षुरभांडिक=छुरहंडी (नाई के औज़ार रखने की किस्वत के लिये प्राचीन शब्द)।

चाँदनी—बिछाने की बड़ी चादर। यह शब्द फर्श-ए-चंदनी से निकला है, अर्थात् चंदन के रंग का फर्श जिसे पहली बार नूरजहाँ ने चलाया था (आईन अकबरी, फिलोट, अंग्रेज़ी अनुवाद, १।५७४)।

जड़ूले, झंडूले बाल—गभुआरे बाल। जट+उल्ल > जड़उल्ल > जडूल+क > जड़ूला (जड़ अर्थात् गर्भ के पैदायशी बाल)।

जादू—फा० जादू। पहलवी यातू (जादू), यातूक (जादूगर), सं० यातु।

जोहर—मेरठ की बोली में छोटा पोखर। पहलवी, आब जोहर। सं० होत्रा, जंद झओथ्र, पहलवी जोहर, जोर। वह पवित्र जल जो यज्ञादिक के लिये रखा जाता था।

ढपोल, ढपोर--सं० दर्पवत् > प्रा० दप्पुल > दप्पउल > ढपउल > ढपोल। ढपोल या ढपोरशंख जो केवल घमंडभरी बात कहता था, देता-लेता कुछ न था।

ढिंढोरा--संक्षिप्त शब्दसागर की व्युत्पत्ति 'अनुकरणात्मक ढम+ढोल'। अशुद्ध है। ढिंढोरा सं० डिंडिम पटह से निकला है। डिंडिमवडअ > डिंडिंवरा > डिंडउरा > डिंडोरा > ढिंढोरा। डिंडिम एक प्रकार का ढोल था जो संभवतः तामिल तण्णु से निकला है। इसी प्रकार पटह भी तामिल 'परै' (ढोल) से समता रखता है।

तगार--वह बरतन जिसमें चूना या गारा आदि रखा जाता है। फा० तगार। पहलवी तगार (पीपेनुमा बर्तन, पायकुली का शिलालेख १।२४६)।

तमक—यह भी अक्कदी भाषा का प्राचीन 'तैमक' शब्द था, जिसका अर्थ था जोश। वहाँ से अरबी में होता हुआ हिंदी को मिला।

तरौना—कान में पहनने का एक गहना। शब्दसागर में 'ताड़+बनना' व्युत्पत्ति है। वस्तुतः तालपर्ण > तालवण्ण > तालउन्न+क > तरौना। तालपर्ण या ताड़ के पत्त की तरह का गोल फाँकदार कान का गहना तरौना कहलाता है। इसी प्रकार दंतपर्ण से दंतवण्ण, दंतवन, दंतौन, दतौन बनता है।

तागा—डोरा, धागा। फा० ताग, पह० ताक (रेशा)।

तिरक—हाथी के पीछे का वह स्थान जहाँ से पूँछ निकलती है, रीगढ और दोनों पिछली टाँगों का जोड़ (कर्नल सज्जनसिंह, मधुकर, फर्वरी १९३९, पृ० ३४)।

सं० त्रिक, रीढ़ के नीचे का भाग जहाँ कूल्हे की हड्डियाँ मिलती हैं। तीन हड्डियों के मिलने की जगह होने के कारण यह स्थान त्रिक कहलाता है, जिसका रूप तिरक अभी तक बोलियों में चालू है। त्रिक स्थान पर जो पहना जाता था वह आभूषण भी त्रिक कहलाता था।

तेवर, तिउरी—कुपित दृष्टि, क्रोध-भरी चितवन। संक्षिप्त शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति तेह्=क्रोध से मानी है। वस्तुतः दोनों भौंहों के बीच का स्थान त्रिकुटी कहलाता है, उसी से तिउरी है। क्रोध के समय वही त्रिकुटी का स्थान खिंच या चढ़ जाता है।

थवई—घर बनानेवाला राज। सं० स्थपति>थवइ-थवई।

दाव, दाँव—शब्दसागर में सं० दा प्रत्यय से इसकी व्युत्पत्ति सुझाई है जो कल्पित है। वस्तुतः सं० द्रव्य से दव्व-दाव-दाँव हुआ। वह द्रव्य जो खिलाड़ी जुए में लगाते हैं, दाव या दाँव कहलाता है। उसी से बाद के अर्थ निकले हैं, जैसे किसका दाँव है।

धुस्सा—सं० दूर्श से पाली दूस्स और उससे धुस्स, धुस्सा बना ज्ञात होता है। अथर्ववेद (८।६।११) में 'कृतीदूर्शानि बिभ्रति', चमड़े के धुस्से ओढ़ने का उल्लेख है। अशोक के इलाहाबाद स्तंभ-लेख में सफेद धुस्से पहना कर लड़ाकू भिक्षुओं को संघ से बाहर निकाल देने का आदेश है (ओदातानि दुसानि)।

नरसल, नरकुल, नरकुट—अथर्व० ६।१६।४ में कुछ अज्ञात औषधियों के नाम हैं—नीलागलसाला, अलसाला, सिलाँजाला। इनमें पहले दो नामों के अंत का 'साला' पद पौधे या जल की घास के लिये प्रयुक्त ज्ञात होता है। यह संभवतः निषाद भाषा के शब्द का संस्कृत रूप है। सं० नल+सल>नरसल। अथवा नलकट>नरकट शब्द भी नरसल के लिये प्रयुक्त होता है।

नहर—अक्कदी भाषा में नाह का अर्थ है नहर। वहीं से यह शब्द नारु, नहरु, नहर के रूप में हम तक पहुँचा है।

नेकुड़ा—नाक का नथुना। सं० नक-(नाक) पुट>नककउड़+क>नेकुड़ा। हेमचंद्र ने 'अभिधान चिंतामणि' में नाक का पर्याय नकुटक (३।२४५) शब्द दिया है जो नेकुड़ा से बनाया हुआ संस्कृत रूप जान पड़ता है।

नैचकी, नैचकि—अच्छी गाय। शब्दसागर में नैचिकी को संस्कृत कहा है। मध्यकालीन कोषों में नैचकी को गायों में उत्तम गाय माना है (हेमचंद्र, अभि०

चिंता० ४।३३६)। संस्कृत नैत्यिकी का प्राकृत रूप नैचिकी है, अर्थात् वह गाय जो नित्य दूध दे, एक ब्यान के बाद दूसरे ब्यान तक जिसका दूध न टूटे। ऐसी गाय बरस-बियावर होती है। अथर्ववेद में उसे नित्यवत्सा कहा है; क्योंकि उसका बछड़ा सदा उसके नीचे दूध पीता रहता है (अथर्व० ९।४।२१)।

पनच--धनुष की डोरी। सं० प्रत्यंचा, अप० पडिंच, पणिछ (पृथ्वीचंद्र चरित्र, संवत् १४२१, पृ० १४८), पणछ, पनच।

पनही, पनहिआ—इसके लिये मध्यकालीन संस्कृत में प्राणहिता शब्द बनाया गया (बृहत्कथा कोष ५५।६६)। वस्तुतः सं० प्रनद्धा, पनहा; पनही, प्रनद्धिका, पनहिआ इसकी व्युत्पत्ति जान पड़ती है। शब्दसागर में उपानह् से पनही की व्युत्पत्ति दी है। परंतु बुंदेलखंडी 'पाना' उपानह् के अधिक निकट है।

पसाई—पसताल नाम की घास जो तालों में होती है। शब्दसागर में इसे देशज माना है। यह सं० प्रसातिका>पसाइआ>पसाई के क्रम से बना है। पसाई का चावल गाँवों में प्रसिद्ध है।

पापड़—सं० पर्पट, प्रा० पप्पड़ से पापड़ बना है। लेकिन मूल शब्द तामिल पर्पु=दाल से बना है। यह सूचना मुझे श्री सुनीतिकुमार चटर्जी से प्राप्त हुई। इसी प्रकार उनका विचार है कि कचौड़ी शब्द में 'कच' भी दाल का वाचक है--कच-पूरिका>कचउरिआ>कचौरी।

पायक, पाजी—पैदल सैनिक; पार्श्वचर। सं० पादातिक से प्राकृत में पाइक बनेगा (अभिधान० ३।४४१)। लेकिन उसी अर्थ में 'पाजी' शब्द 'पदाजि' से (पदाति का पर्याय, अभिधान० ३।१६२) से बन सकेगा। जायसी ने इस शब्द का अच्छा प्रयोग किया है—'पौरी नवौ बजर के साजी, सहस सहस तहँ बैठे पाजी।' अर्थात् नवों दरवाजे वज्र के बने हुए थे और हरएक पर हजार हजार पाजी या पैदल पहरा दे रहे थे। हिंदी बोलचाल में पाजी शब्द के अर्थ में निंदा का भाव आ गया है।

पारधी—शिकारी, बहेलिया। शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति परिधान से दी है। वस्तुतः वह सं० पापर्द्धि (शिकार) से है। पापर्द्धिक (बहेलिया), पारद्धिअ, पारधी। कर्पूरमंजरी में पालिद्धिआ = अहेरनी।

पिलही—मल। पहलवी पलीदीह (अशुचि पदार्थ, गंदगी)।

पैगंबर, पैगाम—ये शब्द पह्लवी के माध्यम से फारसी में आए। पह० पेत-खम, पईतखम, जंद पइति गम्, प्राचीन ईरानी पतिय् गम्, सं० प्रतिगम्। पैगंबर (पेतखम बर अर्थात् पैगाम ले जानेवाला) में 'बर' भृ धातु (ले जाना) से है।

पौ—किरण, प्रकाश की रेखा, ज्योति। शब्दसागर और संक्षिप्त शब्दसागर दोनों में सं० पाद से इसकी व्युत्पत्ति दी है जो अशुद्ध है। सं० प्रपा से 'पौ' की व्युत्पत्ति पौशाला के अर्थ में वहाँ ठीक दी है। परंतु 'प्रकाश' अर्थवाली पौ के लिये सं० प्रभा शब्द उनके ध्यान में नहीं आया। प्रभा>पव>पउ>पौ।

फफोला—आग में जलने से खाल पर पड़ा हुआ छाला। शब्दसागर में सं० प्रस्फोट। वस्तुतः यह सं० पूगफल से जान पड़ता है। फोप्फल, फोफला, फफोला। सुपारी के जैसे दाने या पानी भरे हुए छाले फफोले कहे जाते हैं।

फरमान—पह० फरमान, प्राचीन ईरानी फ्रमान, सं० प्रमाण।

बछरू, बछेड़ू आदि। इन सब में मूल शब्द वत्स है। उसीसे भिन्न-भिन्न प्रत्यय लगकर रूप बनते हैं।

बाछरू, बछरू। वत्सरूप>वच्छरूव>बाछरूअ>बाछरू>बछरू।

बछेड़ा। वत्सतरक>वच्छयरअ>बच्छइरअ>बछेरा>बछेड़ा।

बछेड़ू। वत्सतररूप>वच्छयररूव>बछेररू>बछेड़ू।

बरसोले—खाँड के गोले जिनमें इलायची, कपूर, केसर आदि डालते थे और जिनका शरबत बनाते थे। सं० वर्षोपल, उससे वर्षोलक। मानसोल्लास (३।१४१७) में वर्षोलक या बरसोले बनाने (शोधित कंद में दूध मिलाकर पकाने) की विधि दी है। नैषध में भी बरसोलों का उल्लेख किया गया है। मध्यकाल ११-१२वीं शती में यह मिठाई बनने लगी थी।

बहली—रथ के आकार की छोटी छतरीदार गाड़ी। शब्दसागर में सं० वहन। वस्तुतः सं० वाह्याली से बहली है। बाण ने चंद्रापीड़ के लिये बनाए गए विद्या-मंदिर का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसके एक भाग में घोड़े, बहली (वाह्याली) आदि रखने का प्रबंध किया गया था। वाह्याली या बह्याली से बहली बना है।

बहोरना, बहुरना—अपभ्रंश वाहुडई=फिर लौटना। उदाहरण—

चंदउ वलि वलि उग्गमइ, धणु फिट्टो वलि होइ।
गयउ न जोव्वणु वाहुडइ, मुयउ न जीवइ कोइ॥

(सिंहासन द्वात्रिंशिका, २२वीं कथा)

चंद्रमा फिर-फिर उगता है, खोया धन फिर हो जाता है; पर गया हुआ यौवन फिर नहीं लौटता और मरा हुआ व्यक्ति फिर जीवित नहीं होता।

अल्सडोर्फ ने बाहुडइ को सं० व्याघुट से निकला हुआ माना है। व्याघुट= बाहुड + ना-बाहुरना-बहुरना, बहोरना, बहोरा, बहोर (अल्सडोर्फ, लंदन प्राच्य० पत्रिका, १०।१९)

बिरवा—सं० विरुह (शब्दसागर)। वस्तुत: इसका मूल सं० विटपक है जिससे बिरवअ=बिरवा बनता है। विटप का अर्थ है वह जो बिट से पानी पिए। ज्ञात होता है विट निषाद् भाषा का शब्द था। उसका अर्थ था पत्ता। निषाद भाषा में बर शब्द पत्ते के लिये है जिससे बरई (जो पत्ते या पान का काम करे) बनता है। संस्कृत वट भी वृक्ष का नाम इसी लिये पड़ा; क्योंकि वह पत्तोंवाला पेड़ था।

बिहफै—गुरुवार। सं० बृहस्पति से बिहप्पइ, बिहफइ, बिहफै।

बीमा—पहलवी बीम, फारसी बीम (भय, डर), जंद धातु बी (डरना), सं० भीम, भी=डरना।

बीरान—पहलवी अवीरान (नहीं है आबादी जिसमें), फारसी वीरान या बीरान, बिरान।

बुजुर्ग—पहलवी वजुर्ग। प्राचीन ईरानी वज्रक। सं० वज्रक।

बुनियाद—फा० बुन या बून। पहलवी बून (आधार, नींव, मूल)। सं० बुध्न (पेंदी) से इसका संबंध ज्ञात होता है।

बुलंद—ऊँचा। फा० बुलंद; पह० बुलंद, बूलंद (ऊँचा, लंबा); जंद बेरैजंद; सं० बृहंत।

बेगड़ी—रत्न-परीक्षक। संस्कृत का शब्द वैकटिक था जो जौहरियों के लिये प्रयुक्त होता था। उसी से अपभ्रंश में बेगडिअ, बेगड़ी बना।

बेला—चमेली की जाति का एक फूल। शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति 'चमेली' से प्रश्नवाचक चिह्न के साथ लिखी है। वस्तुत: चमेली शब्द से इसका कोई संबंध नहीं है। यह शब्द सं० विचकिल से निकला है। विचकिल>प्रा० विअइल्ल (सरस्वती कंठाभरण ५।४१०)>बइल्ल+क>बेला।

ब्यालू—शाम का भोजन। संक्षिप्त शब्दसागर में सं० विहार से इसकी व्युत्पत्ति दी है जो अर्थहीन है। ब्यालू भोजन विहारों तक सीमित नहीं था, आज

भी ब्रज में शाम के भोजन को सब लोग ब्यालू या बिआलू कहते हैं। सं० विकाल भोजन, बिआल-ब्याल + उक = ब्यालू। शाम के भोजन को अथऊँ भी कहते हैं। अस्तमव > अत्थवन > अथवंन > अथऊँ।

ब्यौंत—काम का हिसाब-किताब। शब्दसागर ने सं० 'व्यवस्था' से ब्यौंत की व्युत्पत्ति दी है जो अशुद्ध है। सं० व्ययपत्र से व्ययवत्त > व्ययवत्त > ब्यौंत। इसी प्रकार 'रवौती' अर्घपत्रिका (अर्थात् भाव-ताव की चिट्ठी, रेट सर्कुलर) से बनता है।

भाव—कीमत, दर। यह शब्द फारसी बहा (कीमत), पहलवी बहाक् (मूल्य, दर) से आया हुआ जान पड़ता है। बहा की जगह भा (व) हो गया। कीमत, दर, निर्ख—यह अर्थ संस्कृत भाव शब्द का, कोषों में नहीं मिलता।

भिस, भसींड—कमल की जड़, कमल ककड़ी। सं० बिस। अथर्ववेद ('आंडीकं कुमुदं संतनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली', ४।३४।५) में कई तरह के कमलों के नाम गिनाए हैं। अथर्व (५।१७।१६) में कहा है—'नास्यक्षेत्रे पुष्करिणी नांडीकं जायते बिसं', अर्थात् (जो अपुण्यवान् है) उसके खेत में न कमलों की पोखर होती है, और न आंडीक कमल होता है। सं० बिस से पाली में 'भिस' हो जाता है। सहारनपुर की तरफ अब भी 'भिस' बोला जाता है। पूरबी बोली में कमल ककड़ी के लिये भसींड शब्द है। बिस अंड अर्थात् कमल का कंदरूपी फूला हुआ भाग। बिस अंड > भिसअंड > भसिअंड > भसिं (अ) ड > भसींड। आंडीक से ही प्याज आदि की गाँठ के लिये आंडी या आणी शब्द बनता है।

भौंरा—फिराने का लट्टू। सं० भ्रमरक-भंवरअ-भौंरा। नारायण ने नैषध टीका (२२।५३) में 'कान्यकुब्ज भाषायां भवरा' लिखा है।

भौंहरा, भुइँहरा—धरती के नीचे का घर जो छिपने के लिये या गर्मी में लेटने या माल रखने के काम आता था। मुसलमानी काल में तहखाना शब्द चल गया और खड़ी बोली में प्रायः भौंहरा शब्द मर गया, पर बोलियों में वह बराबर बना रहा। तक्षशिला के आसपास की बोली में भी वह मुझे सुनने को मिला था। शब्द-सागर में सं० 'भ्रमण' से व्युत्पत्ति दी है जो अशुद्ध है। सं० भूमिगृह, भूइं हर + क, भुइँहरा, भौंहरा।

मयानी—खलिहान में एकत्र लाँक या फसल को बैल चलाकर अन्न अलग करने की प्रक्रिया को मयानी या मायना कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण में खेती का उल्लेख करते हुए लिखा है—कृषन्तः वपन्तः लुनन्तः मृणन्तः (शत० १।६।१।३)।

धुवाविगया में मृण हिंसायाम धातु से मृणाति, मृणन्तः बनते हैं। इसी धातु से मणाना-मणानी शब्द बने ज्ञात होते हैं।

मरुम, मोरम—पहाड़ का लाल बालू जो सड़कों पर बिछाने के काम आता है। पाली मरुम्ब (बजरी या दर्रा बालू)। यह द्रविड़ भाषा का शब्द है। तामिल मुरम्पु (कड़ी ऊबड़ खाबड़ पथरीली धरती, पत्थर या बजरी का टीला)। तेलेगु मोरमु (कंकड़, बजरी)। तुलु मुर (पत्थर की खान; लाल बजरी—बरो, ट्रैं० फा० सो०, पृ० ११५)।

मलार—एक राग का नाम। सं० मल्हार से जो स्वयं अपभ्रंश की 'मल्ह' धातु से बना है, जिसका अर्थ था लीला या खेल करना। उसी से मल्हनादेवी आदि मध्यकालीन नाम बने थे।

महरी, महरिया, मेहरी—स्त्री, औरत। शब्दसागर में सं० मेहना से इसकी व्युत्पत्ति दी है जो असंबद्ध है। वस्तुतः सं० महिला हो महल्लिका-महल्लिआ-महरिआ-से महरिया-महरी-मेहरी बन गई।

मुराही, मुरहा—नटखट। शब्दसागर ने इसे मूल नक्षत्र में जन्म लेनेवाले अर्थ में मूल+हा प्रत्यय से व्युत्पन्न माना है। परंतु षड्भाषाचंद्रिका में मूर्ख से मुरुह की व्युत्पत्ति दी है (१।४।१०९; अंत्य हल् से पहले उकार का आगम किया है)। मूर्ख, मुरुख, मुरुह। उसी से 'मुरहा' (बेवकूफ, दुष्ट प्रकृति का) निकला है।

रजायसु, रजाई—यह शब्द रामायण में कई बार आया है। शब्दसागर में इसे अरबी रज़ा+आइस (हिंदी प्रत्यय) से माना है। वस्तुतः शब्द मूल संस्कृत राजादेश से राजाएस-रजाएस-रजाइस-रजायसु बना है और शब्द का विकास अपभ्रंश भाषा के माध्यम से हुआ है। हिंदी में आयसु = आज्ञा शब्द भी चलता है। शब्दसागर में उसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'आयसु' लिखी है। संस्कृत में 'आयसु' कोई शब्द नहीं है। संक्षिप्त शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति (सं० आदेश) ठीक कर दी गई है, पर रजायसु की वही पुरानी अशुद्ध व्युत्पत्ति दी गई है।

रहदू, रहरू—शब्दसागर में इसे पछाँहीं हिंदी की रिढना-(घसिटना) धातु से माना है। वस्तुतः रथ का 'रह' होता है। रथरूप>रहरूव>रहरूअ> रहरू=रहदू। शाहजहाँपुर की तरफ लेहदू भी कहते हैं।

रास—इस शब्द के कई अर्थ हैं और वस्तुतः वे भिन्न भिन्न शब्द ही हैं जिनकी व्युत्पत्ति भी अलग है। हिंदी कोषों में इस तरह के शब्दों को, एक में

मिलाकर अर्थ और व्युत्पत्ति छापते हैं, वह उचित नहीं है। उन्हें भिन्न शब्द मानना चाहिए।

(१) रास, खलिहान में अन्न का ढेर। सं० राशि।

(२) रास, घोड़े या बैल की लगाम की रस्सी। सं० रश्मि, रस्सि, रास। रस्सी शब्द भी रश्मि से ही है।

(३) रास, एक प्रकार का नृत्य। सं० रास। संभवतः लास्य से रास्स, रास + क, रासा।

(४) रास, ज्योतिष की राशि। सं० राशि।

(५) रास, चौपाए की इकाई, जैसे गाय एक रास, जिसे अंग्रेजी में 'हेड ऑव कैटिल' कहते हैं। यह प्राचीन मिस्र और म्लेच्छ परिवार की भाषाओं का शब्द है जो अरबी से हमें मिला। र् श् , हिब्रू राश=सिर।

रेवड़—भेड़ों का झुंड। यह शब्द बहुत प्राचीन परंपरा का है। अक्कदी भाषा में रेऊ का अर्थ है भेड़। वहाँ से यह शब्द अन्यान्य म्लेच्छ परिवार की भाषाओं में फैला और अरबी के माध्यम से हम तक पहुँचा। अरबी भाषा से मिले हुए शब्दों की व्युत्पत्ति ढूँढते हुए हमें उनके मूल स्रोत तक पहुँचना होगा। यह कार्य यद्यपि आज की स्थिति में कुछ दुस्साध्य है, परंतु एक दिन अवश्य ऐसा होगा जब कि हिंदी के शब्दों का पेटा पूरा भरने के लिये हमें अरबी से आगे हिब्रू, खल्दी, असुर, अक्कदी आदि भाषाओं तक शब्दों की परंपरा टटोलनी पड़ेगी।

रौसली—एक प्रकार की चिकनी उपजाऊ मिट्टी, डाकरा। शब्दसागर (पृ० २९८५) में इसे देशज माना है। वस्तुतः यह सं० रजस्वला>अप० रउस्सला> रौसला, रौसली से बना है। रौसली वह मिट्टी है जो रजस्वला यानी गँदली बनी हुई बरसाती नदी अपने दोनों किनारों पर छोड़ती है। उसे ही डाकर कहते हैं। पश्तो भाषा में '*डाग*' सूखी कड़ी धरती को कहते हैं। उसी से डाकर या डाकरी बना है (रेवर्टी, पश्तो कोष, ४८८)। अफगान राज्यकाल में जब भूमि का बंदोबस्त किया गया होगा तब यह शब्द रौसली की जगह हमारी भाषा में प्रचलित हुआ जान पड़ता है।

लंगर, लंगरी, लंगरई, लँगराई—नटखट, ढीठ। 'सूरस्याम मुख पोंछि जसोदा कहति सबै जुवती हैं लँगरी' (सूरसागर १०।३१९)। शब्दसागर में इसकी कोई संतोषप्रद व्युत्पत्ति नहीं है। 'लंघ' धातु से संभवतः 'लंघट' बनाकर उससे लंगर + क

=लंगरा बना। लंघट+गति से लंगर+आई=लंगराई संभव है। कुछ विद्वान् लंघनट से भी इसका संबंध मानते हैं।

लँगोटा- शब्दसागर और संक्षिप्त शब्द०, लिंग+ओट। वस्तुतः 'ओट' कोई शब्द नहीं है। यह तो पट शब्द की जगह जुड़नेवाला प्रत्यय-सा बन गया है। लिंगपट्ट, लिंगवट्ट, लिंगउट्ट, लंगोट। कच्छपट्ट, कछोट्ट+क, कछोटा। अंकपट्ट, अधौंटा (बैल की आँखों पर बाँधा जाने वाला कपड़ा या चमड़ा)। इसी तरह का शब्द था योगपट्ट, जिससे जोगवाट, जोगउट्ट, जोगौटा बनते थे। वह वस्त्र जिसे योगी ध्यान के समय सिर से पैर तक ओढ़ लेते हैं, जोगपाट कहलाता है। जायसी ने रतनसेन के जोगी वेश का वर्णन करते हुए उसका उल्लेख किया है—

मेखलसिंघी चक्र धँधारी। जोगवाट रुद्राछ अधारी॥ (पद्मावत १२।१।४)

यशोधर-चरित में 'गलि जोगवट्टु सविजउ विचित्तु' पाठ है। संदेशरासक में थणवट्ट (स्तनपट्ट) और मयणवट्ट (मदनपट्ट) का उल्लेख है (सँदेश० ४८,४९)।

लोथ—शरीर। सं० लोत्र (शरीर), लोत्त, लोत, लोथ।

साझासीरा—हिस्सापट्टी। ज्ञात होता है इसका मूल रूप सार्धकसीर था, अर्थात् खेती में आधे हल का हिस्सा। सार्धक सीर>सड्ढअसीर>साझासीर। सीर या हल में साझा या आधा-आधा भाग तय होना।

सावर—मिट्टी खोदने का लंबा नुकीला औजार। शब्दसागर में शावर अशुद्ध व्युत्पत्ति है। सं० शर्वला (गदाला, कुदाला)। विक्रमांकदेव-चरित १५।६४ की टीका में तोमर का पर्याय शर्वला दिया गया है।

साल—वर्ष। फा० साल, पहलवी सालक्, जंद सरेध, सं० शरद्। संख्या-वाची शब्दों के बाद पहलवी 'सालेह' आता है जिससे फा० सालह्, उससे हिंदी इकसाला, दुसाला, सौसाला आदि बनते हैं।

साहनी—घुड़सवार सेना के अध्यक्ष। यथा—

भरत सकल साहनी बोलाए। आयसु दीन्ह मुदित उठि धाए॥
रचि रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे। बरन-बरन बरबाजि बिराजे॥

संक्षिप्त शब्दसागर में इसे प्रश्न चिह्न के साथ सेनानी से व्युत्पन्न माना है। वस्तुतः यह संस्कृत का 'साधनिक' है जो साहनिय>साहनी बना। शिलालेखों में साहणी (भंडार-कर, संस्कृत लेख-सूची ३९५) और महासाहिणिय (लेख-सूची १८२) का व्यवहार

के अध्यक्ष के रूप में उल्लेख आया है। बृहत्कथाकोष (१२६।११६) में 'साधनिक' का उल्लेख है।

सुरागाय -सुर गाय (शब्दसागर)। वस्तुतः यह शब्द सुरभि से निकला है, प्रा० सुरही, सुरह। यही चमरी, चवँरी, चउंरी, चौंरी भी कहलाती है।

सुर्ख़रू—लाल मुँह वाला, तेजस्वी, कांतिमान्। फा० सुर्ख़रू। मूल मे दोनों शब्द संस्कृत परंपरा से हैं—शुक्र रूप।

सुथना, सुथ्ना, सुत्थना—पायजामा। शब्दसागर में इसे देशज कहा है। इसका मूल सं० स्वस्थाना है। सामान्यतः साहित्य में इसका प्रयोग नहीं हुआ। एक बार "हर्ष-चरित" में बाणभट्ट ने फूलदार रेशम के बने हुए मुलायम सूथने पहने हुए राजाओं का उल्लेख किया है (उच्चित्रनेत्रसुकुमारस्वस्थानस्थगितजंघा कांडैश्च, सप्तम उच्छ्वास)। काश्मीरी प्रतियों में 'स्वस्थान' पाठ है, जिसके लिये शंकर ने लिखा है—'स्वस्थानेति यस्याः प्रसिद्धिः', अर्थात् जिसे लोक में 'स्वस्थान' कहते हैं। निर्णयसागर की छपी प्रति में 'स्वस्थगन' पाठ है जो अशुद्ध जान पड़ता है। स्वस्थाना > सुत्थाना > सूथाना > सूथना > सुथना—यह विकास-क्रम जान पड़ता है।

सोहर—शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति 'सोहला' से और सोहला की 'सोहना' से दी गई है। हमारी समझ में सूतिगृह से सूइहर > सोइहर > सोहर अधिक संभव है। घर या गृह से 'हर' हिंदी के अनेक शब्दों में आता है। जैसे खँडहर (खंडगृह), धौराहर (धवलगृह), गुड़हर (गुड़गृह), मैहर (मातृगृह), पीहर (पितृगृह, पिअहर), नैहर (ज्ञातिगृह, नाइहर, नैहर)।

राम-वनवास का भूगोल

(किष्किंधा से लंका तक)

[श्री राय कृष्णदास]

सीता के अन्वेषण के लिये जिन वानर-दलों के जाने का वर्णन किष्किंधाकांड* में है उनमें से वास्तविक केवल वह था जिसके प्रमुख अंगद तथा अनुयायियों में मुख्य हनूमान् थे।[1] इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि अन्य दिशाओं में जानेवाली टोलियों में जो वानर गिनाए गए हैं उनमें अनेक इसी टोलीवाले हैं, अर्थात् वस्तुतः वे इसी टोली में थे। अन्य टोलियों की कल्पना पीछे की है और उनके अन्वेषण का संबंध उन प्रदेशों से है जिनका अत्युक्तिक, उलझा[2] और गप्पों से भरा हुआ वर्णन सुग्रीव पर आरोपित भुवनकोष[3] में है।

इस विस्तृत भूगोल का केंद्रस्थान संभवतः वहाँ है जहाँ किष्किंधा का स्थल-निर्णय हो चुका है।[4]

उस दल ने *विंध्य* के वन में आकर[5] *विंध्य* के गुहा-गहनों में खोजना प्रारंभ किया जहाँ अन्वेषण सहज न था,[6] किंतु उस प्रदेश में खोज का कोई परिणाम न निकला। अतएव उसे छोड़कर वे एक ऐसे प्रदेश में पहुँचे जहाँ के पेड़ बाँझ थे। उनमें फल तो क्या फूल-पत्ती तक न थी, नदियाँ सूखी पड़ी थीं। पशु-पक्षियों का नाम-निशान न था।[7] फिर उन्होंने अनेक गिरि-कंदरों, नदी के उद्गमों

---

* प्रस्तुत लेख में रामायण की वाचनाओं के लिये जिन दो प्रमुख संस्करणों से सहायता ली गई है उनके लिये प्रयुक्त संकेत ये हैं—

बं० रा० = बंगाल रामायण; मुं० रा० = मुंबई रामायण।

इनके संबंध में विशेष द्रष्टव्य—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ५४, अंक १, पृ० ११।

१—मुं० रा० ४।४१।५, ७

२—उदाहरणार्थ, प्राग्ज्योतिष (असम) पश्चिम में कहा गया है। मुं० रा०, ४।४२।११

३—मुं० रा०, किष्किंधाकांड, सर्ग ४०-४३

४—"ऋष्यमूक-किष्किंधा की भौगोलिक अवस्थिति"—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५२ अंक ४, पृ० ११७

५—बं० रा०, ४।४८।२; मुं० रा०, ४।४८।२

६—बं० रा०, ४।४८।६; मुं० रा०, ४।४८।६

७—बं० रा०, ४।४८।८, १०; मुं० रा०, ४।४८।८, १०

रामवनवास का भूचित्र (किष्किंधा से लंका तक)
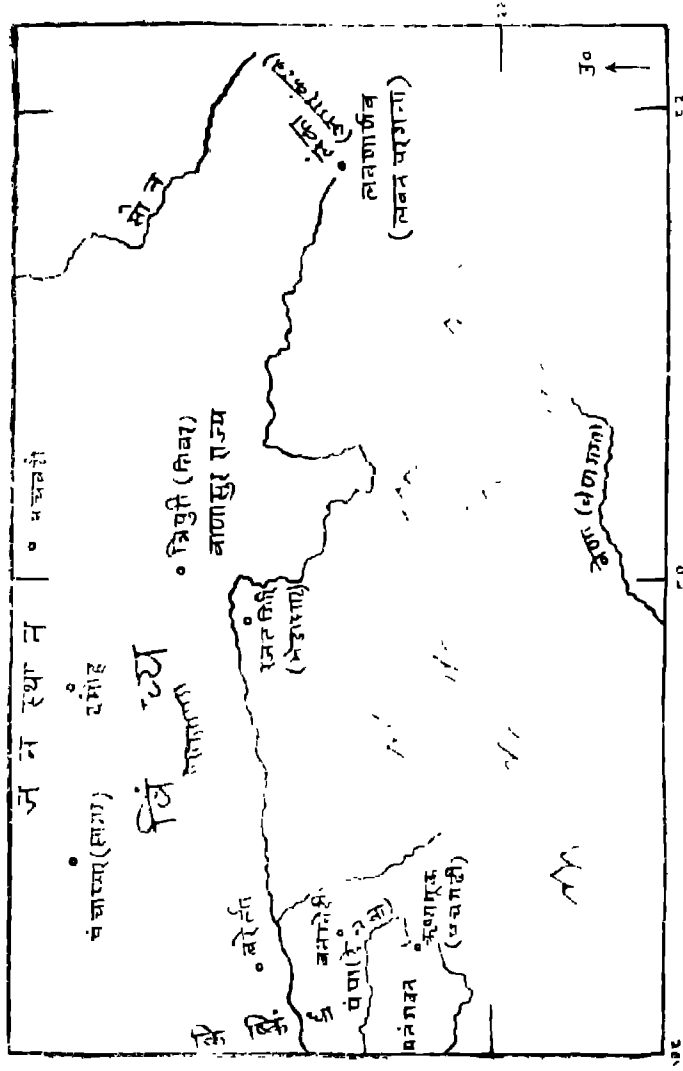
तथा गिरि-गह्वरों में खोज की। असफलता के कारण वे बहुत खिन्न हुए, किंतु अंगद ने उन्हें पुनः उत्साहित किया और उन्होंने फिर से *विंध्य-काननों* से घिरे हुए दूसरे प्रदेशों को छानना प्रारंभ किया।[८] वे शरदूघन किंवा रजत के समान शुभ्र पर्वत पर चढ़े,[९] वहाँ उन्होंने लोध तथा छितौन के वन ढूँढ़े।[१०] थककर वे नीचे उतरे, कुछ काल विश्राम करके वे पुनः *विंध्य* को छोर से खोजने लगे।[११]

उन्होंने *विंध्य* के गुहा और वनों का, नदियों और बीहड़ों का, बड़े बड़े प्रपातों और शिलाओं का अन्वेषण किया। यों ढूँढ़ते ढूँढ़ते वे *विंध्य* के दक्षिण-पश्चिमी सिरे तक जा पहुँचे और वहाँ पानी की खोज में एक अँधेरी खोह (बिल) में जा फँसे।[१२] किसी प्रकार एक दूसरी ओर वे उसके बाहर हुए।[१३] बाहर निकलकर उन्होंने पुनः अपने को *विंध्य* में, किंतु उसके एक ऐसे भाग में, पाया जहाँ प्रस्रवण शैल था और जिसके पार्श्व में लवणांबुधि लहरा रहा था।[१४] वहीं *विंध्य* गिरि के के पास बैठकर वे अपनी असफलता पर पछताने लगे। उन्हें जो एक महीने का समय सुग्रीव ने दिया था वह बीत चुका था। ऐसी विषम परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिये उन लोगों ने वहीं भूखे रहकर मरने की ठान ली।[१५]

वहीं *विंध्य* की कंदरा में जटायु का बड़ा भाई संपाती रहता था। इन लोगों को देखकर वह बाहर निकल आया[१६] और उन लोगों के निश्चय से बड़ा प्रसन्न हुआ कि अच्छा आहार मिला, ये जैसे-जैसे मरते जायँगे, इन्हें खाता जाऊँगा।[१७] उसे देखकर अंगद ने हनुमान् से कहा कि यह साक्षात् मृत्यु उपस्थित है।[१८] हम न राम का काम कर सके, न राजा की आज्ञा का पालन, हम लोगों से तो जटायु

८—बं० रा०, ४।४९।२१; मुं० रा०, ४।४९।१५

९—बं० रा०, ४।४९।२२; मुं० रा०, ४।४९।१६

१०—बं० रा०, ४।४९।२३; मुं० रा०, ४।४९।१७

११—बं० रा०, ४।४९।२८-२९; मुं० रा०, ४।४९।२१-२२

१२—बं० रा०, ४।५०।११; मुं० रा०, ४।५०।११

१३—बं० रा०, ४।५२।२५; मुं० रा०, २।५२।३०

१४—बं० रा०, ४।५३।२०; मुं० रा०, ४।५३।३२

१५—बं० रा०, ४।५१।१५; मुं० रा०, ४।५३।१५, १९

१६—बं० रा०, मुं० रा०, ४।५६।३

१७—बं० रा०, मुं० रा०, ४।५६।४-५

१८—बं० रा०, ४।५६।७; मुं० रा०, ४।५६।८

अच्छा था जो राम के काम आ गया।[१९] हम लोगों के प्राण तो व्यर्थ जा रहे हैं। जटायु की चर्चा सुनकर भ्रातृ-स्नेहवश संपाती व्यथित हुआ[२०] और इन लोगों से सारा वृत्तांत जानकर उसने कहा कि यहाँ *विंध्य* में उसका समाचार नहीं मिलता था; आज कितने दिनों में मिला भी तो यह संवाद। मैंने इधर से रावण को एक तरुणी ले जाते देखा है, जो अपने शरीर को धुन रही थी;[२१] संभवतः वह सीता ही थी।[२२] सुनो, मैं तुम्हें उस राक्षस का निलय बताता हूँ। इस समुद्र में जो द्वीप है, उसमें त्रिकूट पर्वत के शिखर पर उसकी राजधानी लंकापुरी है,[२३] वहीं पर वह रहता है और वहीं वह सीता को ले गया है। तुम लोग शीघ्र वहाँ जाने का विक्रम करो और सीता के पास पहुँचकर समृद्धार्थ हो।[२४]

इस प्रकार जिसे मृत्यु समझा था उससे जीवन पाकर वानर उछल पड़े, और प्रसन्नता का निनाद करते हुए समुद्रतट पर आए।[२५]

उक्त विवरण से निम्नांकित बातें असंदिग्ध रूप से प्रकट होती है—

(१) वानर-दल ने सीता की खोज *विंध्य* में की और बार-बार उसी में घूमता रहा।[२६]

(२) *विंध्य* से समुद्र टकराता था।

(३) उस समुद्र में एक द्वीप था जिसमें त्रिकूट पर लंकापुरी थी।

विंध्य के पार्श्व में समुद्र का होना एक बड़ी विकट पहेली है जिसको बूझने के चक्कर में पड़कर रामायण के प्रसिद्ध व्याख्याकार गोविंदराज ने भेषजकल्प नाम के किसी नगण्य, इस कारण अज्ञात ग्रंथ से, "हिमवद्विंध्यशैलाभ्यां प्रायो व्याप्ता वसुंधरा"—यह वचन उद्धृत करके दिखलाना चाहा है कि रामेश्वर के निकटवर्ती पर्वत को भी विंध्य का ही एक अंश मानना चाहिए। किंतु यह उद्धरण और कुछ

१९—बं० रा०, मुं० रा०, ४।५६।१२

२०—बं० रा०, ४।५६।२० ; मुं० रा०, ४।५६।१९

२१—बं० रा०, ४।५८।१९-२० ; मुं० रा०, ४।५८।१५-१६

२२—बं० रा०, ४।५८।२२ ; मुं० रा०, ४।५८।१८

२३—बं० रा०, ४।५८।२४ ; मुं० रा०, ४।५८।२०

२४—बं० रा०, ४।५८।३१ ; मुं० रा०, ४।५८।३२

२५—बं० रा०, ४।५८।३८ ; मुं० रा०, ४।५८।३४-३५

२६—बं० रा०, ४।४।६८ और ४।४।७० से तथा अग्निपुराण ८।१२ से भी यही प्रतिपादित होता है।

नहीं, "आर्यावर्तः पुण्यभूमिः मध्यं विंध्यहिमालयोः" का एक दूसरा रूप भर है। इससे यह अर्थ निकालना कि 'विंध्य' पद से उसी के समकक्ष अन्य कुलपर्वत भी विवक्षित हैं, दुराग्रह मात्र होगा। वस्तुतः "प्रायो व्याप्ता वसुंधरा" का वही भाव है जो कालिदास के हिमालय-विषयक 'पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मापदण्डः' का। भास ने हिमालय-विंध्य के सहारे पृथ्वी की जो छवि अंकित की है उसमें भी विंध्य से केवल वही पर्वत-शृंखला अभीष्ट है जिसे पौराणिक भुवनकोष में अथवा आजकल के भूगोल में विंध्य मानते हैं, अर्थात् जो सप्त-कुलाचलों में एक है। कवि कहता है—

> इमां सागरपर्यन्तां हिमवद् विन्ध्यकुण्डलाम्।
> महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥

अर्थात्, हमारे राजसिंह इस सागरपर्यंत पृथ्वी को, जिसके हिमवान् और विंध्य कुंडल हैं और जो उनकी एक छत्रच्छाया में है, शासन करें। स्पष्ट है कि कवि का तात्पर्य यहाँ उक्त आर्यावर्त से है, जिसमें बीच का अंश पृथ्वी का चेहरा होता है और इधर-उधर सरल रेखा में हिमालय और विंध्य दोनों कुंडल बनते हैं, जैसे कि वस्तुतः ऐसे सम्मुख चेहरे में चित्रित होने चाहिएँ। यदि ऐसा न हो तो कुंडल का रूपक नहीं सधता। गोविंदराज ने विंध्य का जो अर्थ लगाया है उससे तो विंध्यकुंडल एक त्रिकोण बन जायगा, जैसा कि कुंडल का आकार होता ही नहीं।

सच तो यह है कि समूचे भारतीय वाङ्मय वा परंपरा वा अनुश्रुति में कहीं से भी विंध्य का गोविंदराजवाला अर्थ सिद्ध वा स्थापित नहीं होता। असल बात यह है कि 'वानरों ने विंध्य-मेखला ही में सीता की खोज की थी एवं लंका विंध्य में ही थी'—इस तथ्य को समय के फेर से क्रमशः भूलकर लोगों को चक्कर में पड़ना पड़ा। गोविंदराज के पहले स्वयं रामायण को पल्लवित करनेवालों ने भी रामायण में ही इसके निराकरण की चेष्टा की है। सुंदरकांड में हनूमान् जानकी से अपना वृत्तांत सुनाते हुए कहते हैं कि जब हम लोग *विंध्य* में गुमराह हो गए तो हमें बड़ा शोक हुआ और अपनी असफलता के कारण, तथा सुग्रीव ने हमें लौटने की जो अवधि दी थी उसके अतिक्रम से भयभीत होकर हमने उस पर्वत पर चढ़कर प्रायोपवेशन की ठानी। वहाँ संपाती ने हमें आप (सीता) का पता बताया और तब हम उस *विंध्य* से समुद्रतट पर पहुँचे।[२७] युद्धकांड में भी, लंका से लौटने

२७—वं० रा०, ५।६३।२६-२७

पर वे भरत से राम का वन-चरित वर्णन करते हुए कहते हैं कि हम लोगों को विंध्य पर्वत में सीता का अन्वेषण करते बहुत समय बीत गया।[२८]

वस्तुतः विंध्य के संबंध में इस गड़बड़ के उत्पन्न होने का कारण यह है कि उक्त प्रसंग में विंध्य के लिये कहीं कहीं 'मलय' शब्द भी आया है। किंतु यह मलय किसी पर्वत-विशेष का वाचक नहीं, बल्कि यह द्रविड़ भाषा वाली, पर्वत की जाति-वाचक संज्ञा है। हम देख चुके हैं कि रामायण में अनार्य भाषा के कई शब्द दबे पड़े हैं जो रामायण की 'वस्तु' की सत्यता को प्रमाणित करते हैं। मलय शब्द भी उनमें से एक है। संभावना ऐसी है कि इसी मलय शब्द का प्रकृत अर्थ भूलकर कथा पल्लवित करनेवालों ने वानर-निवास मलय पर्वत में ठहराया और फलतः लंका को सिंहल में पहुँचा दिया।

सिंहल और लंका भिन्न हैं, इसके प्रमाण कई बार प्रकाश में आ चुके हैं; फिर भी यहाँ उन्हें दुहराए बिना यह प्रसंग अधूरा-सा रह जायगा—

(१) राजशेखरकृत बालरामायण नाटक में सीता स्वयंवर के अवसर पर सिंहल-नरेश राजशेखर के साथ लंकापति रावण का जो संवाद दिया गया है उससे स्पष्ट सूचित होता है कि लंका और सिंहल अलग-अलग हैं। राजशेखर से रावण कहता है—'सिंहलपते, किमिदं संदिह्यते। नच संदेहदेहो वीरवृत्तनिर्वाहः।'

उसी बालरामायण में पुष्पक द्वारा लंका से अयोध्या लौटते समय लंका से कुछ दूर आकर सामने दिखाई पड़नेवाले प्रदेश का परिचय सीता को देते हुए विभीषण कहते हैं कि यह सिंहल है। यहाँ भी सिंहल लंका से भिन्न है।

(२) भागवत में शुकदेव ने जंबुद्वीप के आठ उपद्वीप गिनाए हैं, उनमें भी लंका और सिंहल एक दूसरे से भिन्न हैं।

(३) वराहमिहिर ने भी अपनी बृहत्संहिता में दक्षिणी देशों के नाम गिनाते समय लंका और सिंहल को अलग-अलग लिखा है।

(४) मार्कंडेय पुराण में दक्षिण-भारत के देशों की गणना में सिंहल को लंका से पृथक् गिना है।

(५) भारत में कृष्ण ने वनवासी युधिष्ठिर से राजसूय में आए हुए उन अनेक राजाओं के नाम गिनाए हैं जिन्होंने परिवेशक का कार्य किया था, वहाँ भी सिंहल और लंका का पृथक् उल्लेख है—

२८—मुं० रा०, ४।१२१।७१

सिंहलान् बर्बरान् म्लेच्छान् ये च लंकानिवासिनः ।[29]

इन प्रमाणों से यह असंदिग्ध हो जाता है कि सिंहल लंका नहीं है। साथ ही, वह भारत के बाहर का कोई दूसरा द्वीप भी नहीं हो सकता। इसका प्रमाण यह है कि जहाँ भारत के नव भेद गिनाए गए हैं, जो समुद्र द्वारा एक दूसरे से अलग हैं, वहाँ लंका का नाम नहीं है। यदि लंका भारत से बाहर होती तो अवश्य वहाँ लंका का भी नाम होता। अत: लंका भारत-भूमि के भीतर का ही स्थल ठहरता है। यहाँ तक यह देख चुकने पर कि (क) वानर-दल ने सीता का अन्वेषण विंध्य में ही किया था, (ख) वाल्मीकि के विंध्य से वही कुलपर्वत अभिप्रेत है जिसे हम आज भी विंध्य कहते हैं और (ग) पूर्वमध्यकाल तक लंका सिंहल से जो निर्विवाद रूप से आजकल लंका माना जानेवाला सीलोन है, भिन्न मानी जाती थी,[30] स्वभावत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि लंका की भौमिक स्थिति कहाँ थी? इस प्रश्न को लेने के पहले थोड़ा-सा सिंहावलोकन कर लेना अच्छा होगा।

यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि किष्किंधा विंध्य-पृष्ठ पर थी और राक्षसों का बहुत बड़ा जनपद 'जनस्थान' उसके उत्तर पड़ता था। इन दोनों स्थानों की भौमिक स्थिति यथानुक्रम वर्तमान पंचमढ़ी और उसके उत्तर का प्रदेश सिद्ध होती है।[31] इसी प्रसंग में हम यह भी देख चुके हैं कि द्रविड़ भाषा के पर्वतवाची मलय शब्द ने किष्किंधा को सुदूर दक्षिण में जा फेंका और उसके कारण लंका को भी सिंहल (सीलोन) में पहुँचना पड़ा।[32]

२९—महाभारत, ३।५१।१३

३०—लंका और सिंहल के पृथक्त्व की यह परंपरा किसी-न-किसी रूप में बहुत इधर तक चली आई थी। अठारहवीं शती के अवधी कथाकाव्य चित्रावली तक में हमें इसकी तनिक सी गंध मिलती है—

देखेसि लंका कंचन केरा। सरन दीप सब घर घर हेरा।
सिंहल दीप दीप उजियारा। जो देखा सो मनि मनियारा॥ (जोगी ढूँढन खंड)

स्पष्ट शब्दों में इसमें लंका, सरन द्वीप और सिंहल द्वीप का पृथक् पृथक् उल्लेख है।

३१—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ५१, अंक ४; "ऋष्यमूक-किष्किंधा की भौगोलिक अवस्थिति"।

३२—वस्तुत: लंका भी अनार्य भाषा, संभवत: गोंड भाषा की टापूवाची जातिवाचक संज्ञा है। शबर भाषा में लंका का अर्थ टीला होता है (इस तथा अन्य अनार्य शब्दों के लिये द्रष्टव्य, 'दी आर्यन्स ऐंड दी द्रैवीडियन्स इन इंडिया', बिहार ऐंड ओरीसा रिसर्च सोसायटी

इन बातों से भी यही लक्षित होता है कि वास्तविक लंका उक्त स्थानों के लपेट में, विंध्य से मिली हुई ही थी। फलतः उसकी खोज विंध्य में ही अभीष्ट है। इस प्रकार की खोज की जा चुकी है। इंदौर के प्रसिद्ध विद्वान् सरदार माधव विनायक किबे तथा स्वर्गीय डाक्टर हीरालाल ने लंका की पहचान अमरकंटक में की है जिसके मुख्य प्रमाण ये हैं—

(१) समूचे भारत में गोंड ही एक ऐसी जाति है जो अपने को रावण-वंशज बताती है। बिलकुल अशिक्षित एवं पशुप्राय होने के कारण यद्यपि वे यह भूल गए हैं कि रावण कौन था, फिर भी वंश-परंपरा की रूढ़ि द्वारा उन्हें यह याद है कि वे रावणवंशी हैं। तेरहवीं-चौदहवीं शती से इन गोंडों का आधिपत्य मध्यप्रांत पर तीन-चार सौ वर्षों तक रहा। इस राजघराने का सबसे प्रतापी राजा संग्रामशाह हुआ जिसके सोने के सिक्कों पर उसके नाम के साथ "पौलस्त्य वंश" मिलता है। अमरकंटक प्रदेश में इन गोंडों की बहुतायत है।[३३]

की पत्रिका, भाग ११, पृ० ४१–५३)। जैसा कि निम्नलिखित अवतरण से विदित होगा, मध्यप्रांत में यह आजकल भी टीले या टापू के अर्थ में प्रचलित है—

"...गाँव से किसान भी संग हो लिए। नर्मदा के किनारे पहुँचकर प्रश्न किया गया कि १९२६ ई० का पूर कहाँ तक आया था। एक किसान ने तुरंत उत्तर दिया—"लंका तक"। हमलोग आश्चर्यान्वित होकर पूछने लगे, लंका कहाँ है? उसने झट एक टीले को इंगित किया। ...उस टीले को देखा तो उसे सबसे ऊँचा पाया उसके चारों ओर सूखे नाले थे। लेखक ने पूछा, इसको लंका क्यों कहते हैं? क्या यहाँ कभी रामलीला हुई थी? उत्तर मिला—"नहीं साहब, ऐसे ऊबड़-खाबड़ जंगल में रामलीला कैसे हो सकती है? यह नाम पुराना है, ऐसे ऊँचे टीलों को लंका ही कहते हैं।"...लेखक का विश्वास था कि टीला या टापू के लिए "लंका" शब्द का उपयोग दक्षिण ही में किया जाता है। परंतु यह तो अमरकंटक के भी उत्तर के गाँवों में अकस्मात् मिल गया।"

—डा० हीरालाल का "अवधी हिंदी प्रांत में राम-रावण-युद्ध" शीर्षक लेख (कोशोत्सव स्मारक संग्रह, पृ० २६–२७)।

कश्मीर में भी जलमध्यवर्ती भूभाग को लंका कहते थे। बँगला में यह टापू मात्र का वाचक है ही। स्वभावतः सीलोन के लिये पहले यह इसी द्वीपांतर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ होगा, फिर रामायण-भूगोल के दक्षिण खिसकने के साथ-साथ इसका रावणीय लंका से एकत्व स्थापित हो गया होगा।

३३ - युक्तप्रांत और बिहार में ऐसे गोंड भी हैं जिनकी आदिम जाति के रूप में कोई अलग बस्ती अथवा धर्म नहीं रह गया है। एक हिंदू बिरादरी के रूप में वे गाँवों में

(२) इन गोंडों के पड़ोसी, परंतु शत्रु, उराँव और शवर हैं। रामायण में इसी प्रदेश में शबरों का उल्लेख तो स्पष्ट ही है, उराँव का समीकरण वानर जाति से संभावित है। उराँव का अर्थ वनराज है जो रामायणवाले वानर-पर्याय, वनचर से दूर नहीं। इनका गोंडों से जातिगत वैर भी इस समीकरण का पोषक है। राम ने गोंडों के विपक्षी इन उराँवों को अपने पक्ष में करके इनकी सहायता से रावण पर विजय पाई।

(३) अमरकंटक की तली में आज भी एक बड़ा भारी दलदल है जिसको कोई पार नहीं कर सकता। ब्रिटिश काल में मध्यप्रांत के प्रथम चीफ कमिश्नर ने प्रयत्न किया था, परंतु उसे बहुत कष्ट उठाकर असफल लौटना पड़ा। इससे सरलतापूर्वक अनुमान किया जा सकता है कि राम के समय में वहाँ पानी का कितना भारी संचय रहा होगा। ऐसी झील के लिये समुद्र शब्द का लाक्षणिक प्रयोग भारतीय भाषाओं का स्वभाव है। स्वयं रामायण के अंतःसाक्ष्य से हम किष्किंधा प्रसंग में यह झलक पाते हैं कि समुद्र शब्द से भूमंडल को परिवेष्टित करनेवाली महा-जलराशि के अतिरिक्त भूमंडल में के अन्य जलाशयों का भी बोध होता था।

(४) अमरकंटक के दक्षिण में अब तक लवन नामक परगना है जिसकी भूमि आसपास की भूमि से नीची है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्राचीन काल में यह भूमि और नीची, फलतः पानी से भरी रही होगी, जो क्रमशः सूख और भर गई, वा उसके पानी का निकास हो गया। अर्थात् राम-काल में उक्त झील यहाँ तक लहराती रही होगी। रामायण इत्यादि से हम यह पाते हैं कि जिस जलराशि में लंका थी और जिसे हनूमान् ने पार किया था उसका नाम लवणार्णव या लवणांभस् था। उक्त लवन इसी का घिसा-घिसाया रूप संभावित है।

सीता-अन्वेषण के मार्ग के उक्त रामायणीय वर्णन में इस संबंध को एक लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि वानर-मंडली अपने अन्वेषण की आरंभिक

पाए जाते हैं। यह बिरादरी कँहारों के मेल की है जिस प्रकार अहीर और गँडेरिए। इस संबंध में यह बात लक्ष्य करने की है कि कँहारों की एक अंतर्गत-जाति रवानी होती है और यह शब्द रावण से संबंधित है, जिस प्रकार वाद्य-वाचक रवाना शब्द, जिसका प्राचीन नाम रावण-हस्तक है।

मंजिलों में विंध्य के एक शरद्घन अथवा रजत सरीखे शुभ्र शिखर पर पहुँचती है। पंचमढ़ी से पूरब की ओर जानेवाले दल को कुछ पड़ाव जाने पर ही जबलपुर का भेड़ाघाट (मार्बल राक्स) मिलता है। रामायण का रजत-शरद्घन-संनिभ शिखर इस मार्बल राक्स के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? फिर, विंध्य का छोर आ जाने पर लवणार्णव आ जाना स्पष्टतः अमरकंटक का वर्णन है, जहाँ विंध्य का छोर आ जाने पर एक बड़ी झील का कंकाल आज भी विद्यमान है, जैसा कि हमने अभी देखा है। इस प्रकार रामायण के अन्तःसाक्ष्य से भी लंका की उक्त पहचान का पूर्ण सामंजस्य और समर्थन है।

अमरकंटक से इस स्थान के एकत्व के विषय में रामायण की यह बात भी लक्ष्य करने की है कि विंध्य के उक्त छोर पर प्रस्रवण की चर्चा है और अमरकंटक नर्मदा तथा शोण का प्रस्रवण (उद्गम) है। इतना ही नहीं, रामायण से जो तनिक भी परिचित है उसे विदित है कि लंका त्रिकूट पर स्थित थी। अमरकंटक का प्राचीन नाम भी त्रिकूट है जिसके कारण नर्मदा का एक नाम 'त्रिकूटा' मिलता है।[३४] सो वर्तमान ऊहापोह के प्रकाश में यह मानना पड़ता है कि ये दोनों त्रिकूट एक हैं। इससे लंका के स्थल निर्णय का एक और प्रमाण प्राप्त हो जाता है।

राम और रावण संबंधी जो किंवदंतियाँ चली आ रही थीं उनका एक प्राचीन संग्रह हमें उत्तरकांड के रूप में मिलता है। यह गुप्तकाल के पूर्व का है, क्योंकि कालिदास ने जो राम-चरित रघुवंश में अंकित किया है वह वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांडसहित-रूप का सारांश है। इन कथाओं के पात्र तुल्यकालीन और ऐतिहासिक हैं, जैसा कि इस प्रकार की सभी ऐतिहासिक उपकथाओं में पाया जाता है। केवल इनकी घटनाएँ कल्पित होती हैं। निदान, उत्तरकांड की कथाओं में हम हैहयों और बाणासुर से रावण के संघर्ष की कथाएँ पाते हैं। हैहयों की राजधानी माहिष्मती में और बाणासुर की त्रिपुरी (तिवर) में निश्चित हो चुकी है। इन हैहय और बाणासुर राज्यों से रावण की निरंतर शत्रुता तभी संभाव्य है जब उसका राज्य इन राज्यों का पड़ोसी रहा हो। अमरकंटक यह शर्त पूरी करता है। यदि सुदूर सिंहल (सीलोन) लंका होता तो उसका संघर्ष पांड्य एवं चोल सरीखे राज्यों से अपेक्षाकृत अधिक तर्कसम्मत होता। यह बात भी लक्ष्य करने की है

३४—स्कंद पुराण, रेवा खंड, ५

कि बीच में बाणासुर के शत्रु-राज्य पड़ने के कारण ही उसे बचाकर रावण, सीता-हरण करके सीधे लंका न जाकर, किष्किंधा के मार्ग से गया था।

इस प्रकार हमने अयोध्या से पंचवटी[35], पंचवटी से किष्किंधा[36] और किष्किंधा से लंका तक के भूभागों की पहचान का जो प्रयत्न किया है उसमें हमने अपनी ओर से कोई पूर्व-निर्णय करके उन्हें प्रमाणित करने की चेष्टा नहीं की है। रामायण और अन्य प्राचीन ग्रंथों की विवेचना से हमें जो बातें मिलीं उन्हीं को एक कोटि-क्रम में बैठाने पर हमें ये निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं। आशा है कि विद्वन्मंडली इनका विमर्श करके सत्यासत्य का निर्णय करेगी। इस प्रकार आविष्कृत सत्य ही सर्वमान्य होना चाहिए।

३५—ना० प्र० प०, भाग ५७ अंक १, पृ० १३

३६—वही, भाग ५९ अंक ४, पृ० १२०

प्राचीन भारतीय वीणा

[श्री नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी]

हमारे यहाँ वाद्यों के चार मुख्य भेद माने गए हैं—(१) घन या ठोस वाद्य, (२) सुषिर या वायुवाद्य (३) अवनद्ध या चर्मावगुंठित वाद्य और (४) तत या तंतु वाद्य। इन सभी प्रकार के वाद्यों के विकास का वर्णन अत्यंत मनोरंजक होगा, परंतु स्थलाभाव के कारण हम प्रस्तुत लेख में केवल तत वाद्य की विकास-प्रणाली का विचार करेंगे। किसी भी मानवोपयोगी वस्तु का इतिहास पूर्ण रूप से जानने के लिये हमें उस काल तक दृष्टि दौड़ानी होती है जहाँ से स्वयं मानव के इतिहास का श्रीगणेश हुआ है। भारतीय वीणा भी इसके लिये अपवाद नहीं है।

वाद्य का मुख्य लक्ष्य है शब्दोत्पत्ति। इसका अर्थ यह हुआ कि जब से किसी भी उपकरण द्वारा मानव ने कृत्रिम रूप से शब्दोत्पत्ति करना सीखा तभी से वाद्यों का जन्म हुआ। तथा च उपकरणों की भिन्नता के आधार पर ही वाद्यों का वर्गीकरण भी आगे चलकर हुआ। एक वस्तु को दूसरी से टकराकर शब्द उत्पन्न करना मनुष्य ने पहले सीखा होगा, इस प्रकार घन वाद्यों का ही आविष्कार सर्व-प्रथम हुआ होगा। तत्पश्चात् सुषिर, अवनद्ध एवं अंततः तंतु वाद्यों का जन्म हुआ होगा। तंतु वाद्य का उद्गम धनुष से ज्ञात होता है, क्योंकि आदिकाल से ही कोदंड मानव का प्रमुख युद्ध-साधन था। सदैव युद्ध में रत रहनेवाले मनुष्य के लिये प्रत्यंचा का शब्द अत्यंत मधुर मालूम पड़ता होगा, इसमें संदेह नहीं। मूलतः प्रत्यंचा के शब्द का उपयोग यही जानने के लिये किया जाता था कि धनुष की डोरी में कितना बल है, उससे छूटा हुआ बाण कितनी दूर तक जा सकता है। इसी सिद्धांत का परिवर्धित एवं लाक्षणिक रूप यह हुआ कि जिस धनुर्धारी की प्रत्यंचा का शब्द जितना ही गंभीर एवं तीव्र होगा, उतना ही उसका शर-संधान-सामर्थ्य तथा बल भी अधिक होगा। इसीलिये अपने शत्रु को दहला देने के लिये भी वीर रणभूमि में प्रत्यंचा का टणत्कार किया करते थे। यह तो हुआ धनुष की डोरी का रणभूमि में किया जानेवाला उपयोग। किंतु इसके साथ साथ वीरों के लिये इसका एक और भी कार्य था—वह था प्रत्यंचा के शब्द से अपना मनोरंजन। आज भी कोचीन और त्रावणकोर के नायर लोगों द्वारा धनुष का उपयोग संगीत-

साधन की दृष्टि से किया जाता है।[1] भारत में ही नहीं वरन् विदेश में भी संगीत-धनु या 'म्यूज़िकल बोव' का प्रयोग पाया जाता है।[2] यहीं पर हमें 'तत' वाद्य का प्रारंभिक रूप दिखलाई पड़ता है। कभी कभी वीरों के मनोरंजन का कार्य करनेवाली इसी प्रत्यंचा ने कुछ काल के अनंतर वीणा के तारों का रूप धारण किया।

धनुष की प्रत्यंचा का बारंबार टणत्कार करने से मनुष्य को इस बात का ज्ञान हो गया कि धनुष की डोरी को कसने या ढीला करने पर उससे निकलनेवाले शब्द में—जिसे 'स्वर' कहना अधिक उपयुक्त होगा—महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। इसी के साथ साथ उसने यह भी समझ लिया कि प्रत्यंचा जितनी ही बारीक होगी, उससे उत्पन्न शब्द भी उतना ही तीक्ष्ण होगा। एक और विशेषता भी उसे अवगत हो गई। वह यह कि जैसे जैसे धनुष की लंबाई बढ़ेगी वैसे वैसे उसकी प्रत्यंचा से उत्पन्न शब्द भी बदलता जायगा। इन सिद्धांतों के आधार पर मनुष्य की प्रगतिशील बुद्धि आगे कार्य करने लगी। अब यह चेष्टा की जाने लगी कि छोटी-बड़ी प्रत्यंचाओं को एक ही धनुर्दंड में बाँधकर भिन्न भिन्न प्रकार के स्वरों को एक ही स्थल पर केंद्रित किया जाय। यह तो हुआ, किंतु ये स्वर अधिक तीव्र नहीं थे। अब तक अवनद्ध और सुषिर वाद्यों के भी सिद्धांत मनुष्य के ज्ञान-क्षेत्र में आ गए थे। फलत: यह बात ज्ञात हो चुकी थी कि पोली वस्तु के साहचर्य से शब्द भली प्रकार प्रतिध्वनित होता है। इसलिये अब यह सोचा जाने लगा कि धनुष पर भी यदि कोई पोली वस्तु बाँध दी जाय, तो वह उसकी प्रत्यंचा से उत्पन्न शब्दों की तीव्रता एवं मधुरता की दृष्टि से लाभप्रद सिद्ध होगी। यही किया गया। यह पोली वस्तु थी चर्मावगुंठित काष्ठभांड। यह काष्ठभांड संगीतधनु का एक अभिन्न अंग बन गया। इस प्रकार प्रथम भारतीय वीणा का जन्म हुआ, जिसे हम उसके आकार-विशेष के कारण धनुर्वीणा कहेंगे। यह तो हुई विकास-शास्त्र की दृष्टि से वीणा की संभावित कहानी। इस विचार-पद्धति के अनुसार प्राचीन वीणा का आकार धनुष का सा होना चाहिए। अब हम प्राचीन कला एवं साहित्य की कसौटी पर उपर्युक्त सिद्धांत को कसकर उसकी सत्यता की परीक्षा करेंगे। प्रथम कला को लें, क्योंकि कला आज भी हमारे लिये दृष्टिगोचर है और उसमें अनुमान का क्षेत्र अत्यंत सीमित है।

१—गाइड टु द म्यूज़िकल इंस्ट्रुमेंट्स, इंडियन म्यूज़ियम कलकत्ता, १९१०, पृ० ३।
२—हैंडबुक टु दि एथ्नोग्राफ़िकल कलेक्शन, ब्रिटिश म्यूज़ियम, १९२५, पृ० ११९, २१८ इत्यादि।

कला में वीणा

भारतीय कला के उदाहरण हमें मौर्य-काल (लगभग वि० पू० २५०) से प्राप्त होते हैं। इस काल की कला में हमें वीणा का कोई भी प्रत्यक्ष उदाहरण नहीं मिलता। उसके पश्चात् शुंगकाल (वि० पू० १५० वर्ष) आता है। यहाँ हमें वीणा का दर्शन पहली बार होता है। भरहुत स्तूप पर बने हुए चित्रों में हमें ऐसे भी चित्र मिलते हैं, जिनमें नृत्योत्सव के दृश्य अंकित हैं।[3] उनमें प्रधान नर्तकी के साथ वीणाधारिणी स्त्रियाँ भी दिखलाई गई हैं। स्पष्ट है कि ये वीणा बजा-बजा कर नृत्य का साथ दे रही हैं। ये वीणाएँ धनुष के आकार की हैं। वीणादंड धनुष के समान वक्र है, जो संभवतः अंदर से पोला होगा। उसके निचले सिरे पर एक लंबा गोल आकार का तूंबा लगा हुआ है। इसी तूंबे पर तार लगे हुए हैं जो दंड में बँधे हैं। एक स्थल पर वह वस्तु भी स्पष्ट अंकित है जिससे वीणा बजाने का काम लिया जाता था।[४] जैसा हम आगे बतलाएँगे, इसे 'कोण' कहते थे। इसी काल के कुछ अन्य मृण्मय चित्रों (टेराकोटा) पर भी यह वीणा दिखलाई पड़ती है। उदाहरणार्थ कौशांबी से प्राप्त वह चित्र जिसपर उदयन द्वारा वासवदत्ता के हरण की कथा अंकित है; इसमें उदयन भद्रावती नामक हस्तिनी पर अपनी घोषवती वीणा लिए बैठा है।[५]

कुषाण काल (वि० सं० ५०-२५०) में भी हमें यह वीणा प्रचुरता से दिखलाई पड़ती है। मथुरा के प्राचीन 'देवनिर्मित' जैन स्तूप के उत्खनन में उस काल की कला के जो सुंदर उदाहरण प्राप्त हुए हैं उनमें धनुर्वीणा की भी कमी नहीं है। कहीं नृत्योत्सव[६] के अवसर पर, कहीं संगीत समारोह[७] में सहायक वाद्य के रूप में, कहीं केवल स्वांतःसुखाय[८] और कहीं 'पंचमहाशब्दों'[९] के प्रतीक स्वरूप हमें वीणा के दर्शन होते हैं। इसी काल में, किंतु स्वतंत्र रूप से फूलने-

---

३—बरुआ, 'भरहुत' जिल्द ३, फलक ३९ तथा ४२।

४—वही, फ० ३९।

५—राय कृष्णदास, "वासवदत्ता उदयन प्लेक फ्रॉम कोशांबी", जे० यू० पी० एच० एस० भाग १८, पन्नालाल अंक।

६—स्मिथ, जैनस्तूप ऐंड अदर ऐंटिक्विटीज फ्रॉम मथुरा, प्लेट १८।

७—वही, प्लेट २७; विशेष स्पष्टीकरण के लिये द्रष्ट० वी० एस० अग्रवाल, 'मथुरा पिक्चर इन द लखनऊ म्यूजियम', जे० यू० पी० एच० एस०, पृ० ५६, फ० ३, आकृति ५।

८—वही, फ० २३, आकृति २।

९—कनिंघम, ए० एस० आर०, भाग २०, फ० ४, आकृति १ तथा पृ० १५।

फरानेवाली, गांधार कला भी धनुर्वीणा के उदाहरणों से सूनी नहीं है। पश्चिमोत्तर भारत से एक शिलाखंड मिला है जिसपर चंडकिन्नर जातक की कथा अंकित है। उस स्थल पर किन्नर की वीणा धनुर्वीणा ही है।[१०]

गुप्तकाल में भी इस वीणा का अपना स्थान था। अपने अद्वितीय वीणावादन पटुत्व में 'बृहस्पति, तुंबरु और नारद को लज्जित करनेवाले'[११] गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त भी इसी प्रकार की वीणा का प्रयोग करते थे। उनकी कुछ मुद्राओं पर वीणापाणि सम्राट् की मूर्ति अंकित है।[१२] वहाँ उनके हाथ में कोई अन्य वीणा न होकर धनुर्वीणा ही है।

इस वीणा ने दक्षिण भारत में भी प्रवेश पा लिया था। कृष्णा-तट पर स्थित नागार्जुनी कोंड (कुंड) के उत्खनन मे प्राप्त वस्तुओं में हमें धनुर्वीणा भी दृष्टिगोचर होती है।[१३] अमरावती (जिला गुंटूर) के स्तूप पर उत्कीर्ण चित्रों में भी धनुर्वीणा का प्राचुर्य है।[१४] यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि अमरावती में धनुर्वीणा को छोड़कर और प्रकार की भी वीणाएँ मिलती हैं जिनका विवेचन हम 'दक्षिण भारत में वीणा' नामक एक अन्य लेख में करेंगे।

वीणा के इतिहास पर विचार करते हुए हमें एक अन्य प्रकार की वीणा का भी विचार करना अनिवार्य है। यह वीणा प्राचीन कला में पाई जाती है। इसका तूंबा, जिसे काष्ठभांड कहना अधिक उपयुक्त होगा, गोल और चिपटा होता है। इसका दंड भी छोटा किंतु सरल होता है। यह बहुत कुछ पाश्चात्य 'मंडोलीन' या जापानी 'बीवा' वाद्य की भाँति होती है। प्राचीन कला में इसके उदाहरण कम प्राप्त होते हैं। कुषाण-काल की कला में हमें केवल एक ही उदाहरण मिलता है।[१५]

१०—जे० एन० बनर्जी, "ए गांधार रिलीफ इन दि इंडियन म्यूजियम", इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९३४, पृ० ३४४।

११—'गान्धर्वललितैः व्रीडित त्रिदशपति गुरुतुम्बुरुनारदादेः विद्वज्जनोपजीव्यानेक काव्य क्रियाभिः...' फ्लीट, कॉर्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, भाग ३, पृष्ठ ८, पंक्ति २९ (इलाहाबाद पिलर इंस्क्रिप्शन)।

१२—जॉन ऐलेन, कैटेलॉग ऑव द कॉयन्स ऑव द गुप्तास, फ० ५, सं० १–८।

१३—ऐनुअल बिब्लियोग्राफी ऑव इंडियन आर्कियोलॉजी, १९३१, पृष्ठ १७, फ० ७ बी।

१४—शिवराममूर्ति, 'अमरावती स्कल्पचर्स इन द गवर्नमेंट म्यूजियम, मद्रास', बुलेटिन ऑव द गवर्नमेंट म्यूजियम, मद्रास, न्यू सीरीज, जनरल सेक्शन, भाग ४, फ० ११।

१५—हीरानंद शास्त्री, मेमॉयर ऑव दि आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, सं० ११, पृ० १।

अमरावती में भी इसका दर्शन होता है।[१६] किंतु गुप्तकाल में आकर धनुर्वीणा के साथ इसका भी प्राचुर्य दिखलाई पड़ता है। विदिशा के पास उदयगिरि की गुफाओं में एक स्थल पर गंगा-यमुना के संगम का सुंदर चित्रण किया गया है।[१७] इस संगम के अवसर पर देवांगनाओं द्वारा नृत्यादि का भी आयोजन दिखलाया गया है। उन देवांगनाओं के हाथों में वे ही सरल दंडवाली वीणाएँ हैं। अजंता की चित्रकला में भी हमें इस प्रकार की वीणाएँ दिखलाई पड़ती हैं।[१८]

वीणा के इतिहास में यह काल संभवतः संक्रांति काल था। इस समय में दोनों प्रकार की वीणाओं का संगीत के लिये समान रूप से उपयोग किया जाता था। पवाया (पद्मावती) से मिले हुए शिलाखंड से यह बात स्पष्ट हो जाती है।[१९] किंतु गुप्तकाल के उपरांत हमें प्रायः धनुर्वीणा के दर्शन नहीं होते। संभवतः छोटे आकार, वादन-सौकर्य इत्यादि गुणों के कारण दूसरे प्रकार की ही वीणा अधिक लोकप्रिय हुई और धनुर्वीणा पीछे पड़ने लगी। इसी सरल दंडवाली वीणा के और भी नए नए परिष्कृत रूप निकले। आधुनिक काल की सरस्वती वीणा भी उन्हीं में से एक है। मध्यकालीन कला में हमें धनुर्वीणा नहीं दिखलाई पड़ती, इसका यह अर्थ नहीं कि गुप्तकाल के पश्चात् धनुर्वीणा का अस्तित्व ही नष्ट हो गया। ब्रह्मदेश में वह आज भी जीवित है। लखनऊ के संग्रहालय में इस प्रकार की एक ब्रह्मदेशीय वीणा सुरक्षित है। कला के उपरांत अब हम साहित्य की भी इसी दृष्टि से छानबीन करेंगे।

वेदों में वीणा

वैदिक या अन्य साहित्यिक ग्रंथों के आधार पर प्राचीन वीणा के सच्चे स्वरूप का पता पाना कठिन है, क्योंकि वीणा. उसकी वादन-पद्धति या उसके आकार इत्यादि का विस्तृत विवेचन एक ही स्थल पर मिलना असंभव है। अतएव भिन्न-भिन्न स्थलों पर आए हुए उल्लेखों के आधार पर हमें अपनी कल्पना-शक्ति के सहारे कार्य करना होगा। वेदों में हमें वीणा और वाण ये दो शब्द मिलते हैं। मैक्डॉनेल और कीथ के मतानुसार ऋग्वेद और अथर्ववेद में वाण शब्द का अर्थ

१६—शिवराममूर्ति, अमरावती स्कल्पचर्स, फ० १२, सं० ११।
१७—वी० एस० अग्रवाल, "गुप्त आर्ट", फ० ५, आकृति ७।
१८—जी० यजदानी, अजंता, प्लेट १, पृ० १९, तथा फ० २४, २५, २६।
१९—वी० एस० अग्रवाल, "गुप्त आर्ट", फ० १, आकृति १।

'वादित्र संगीत' या वाद्य होता था, परंतु संहिताओं में इस शब्द से एक प्रकार की वीणा का अभिप्राय है जिसका उपयोग 'महाव्रत-विधि' में किया जाता था।[२०] ऋग्वेद में भी एक स्थल पर 'वाण' शब्द से तंतुवाद्य का ही अभिप्राय लिया गया है।[२१] वाण में सौ तार होते थे। तैत्तिरीय संहिता में इसका निर्माण विस्तार से बतलाया गया है। लाल रंग के बैल के चर्म से मढ़ा हुआ तूंबा इसमें लगाया जाता था। दंड गूलर की लकड़ी का होता था। तार लगाने के लिये तूंबे में दस छेद किए जाते थे। प्रत्येक छिद्र में दर्भ या मूँज से निर्मित दस तार पिरोए जाते थे। इस प्रकार ये सब तार 'घुरुच' की सहायता से भली प्रकार कस दिए जाते थे। इस वाण नामक वाद्य को बजाने के लिये एक धनुही भी बनाई जाती थी। वेतस् या इषिका नामक लता का एक टुकड़ा लिया जाता था जो टेढ़ा होकर धनुष के आकार का हो जाता था। इसी में बाल बाँध कर धनुही बनाई जाती थी जिसका प्रयोग 'वाण' को बजाने के लिये किया जाता था। धनुही को बनाने की एक अन्य विधि भी थी। पत्तों सहित 'वेतस्' की शाखा का प्रयोग इस कार्य के लिये किया जाता था।[२२]

अब इसपर विचार करना होगा कि यह 'वाण' वीणा किस प्रकार की होती रही होगी। परवर्ती काल की कला में प्राप्त सरल-दंडवाली वीणा में या आधुनिक काल की सरस्वती वीणा में एक-सौ तारों का लगना कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि इस प्रकार की वीणा में समानांतर तार कसते समय वीणादंड की चौड़ाई को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। धनुर्वीणा में इस बात को ध्यान में रखने की आवश्यकता इसलिये नहीं होती कि उसमें तार एक के ऊपर एक लगे हुए होते हैं। प्राचीन मिस्र

२०—मैक्डॉनेल ऐंड कीथ, वेदिक इंडेक्स, जिल्द २, पृ० २८३

२१—ऋग्वेद १।८५।१०; वाण' शब्द के अनेक विद्वानों ने विभिन्न अर्थ किए हैं। सायण ने इसका अर्थ 'वीणा' किया है, किंतु मैक्समूलर के अनुसार इसका अर्थ है 'शब्द'। विलसन के मतानुसार इसका अर्थ 'वंशी' है (द्रष्टव्य पादटिप्पणी पृ० १२८, ऋग्वेद संहिता, वैदिक पुस्तकमाला का प्रकाशन सं० १)। परंतु शतपथ ब्राह्मण में वाण का वर्णन 'वाणः शततंतुर्भवति'—इस प्रकार किया गया है। इसे देखते हुए सायणवाला अर्थ ही ठीक प्रतीत होता है।

२२—श्रीधर वेंकटेश केतकर, 'महाराष्ट्र ज्ञानकोश', प्रस्तावना खंड, वेदप्रवेश, पृ० ११२; वहीं उद्धृत तैत्तिरीय संहिता ७।५।९ तथा शांखायन श्रौतसूत्र १७।३।१

में भी सौ-तारोंवाला एक तंतु वाद्य होता था जिसका रूप बहुत कुछ धनुर्वीणा के ही समान था।[२३]

इतने अधिक तारों वाले वाद्यों का होना असंभव नहीं है। दक्षिण में तो एक सहस्र तारों वाले वाद्य के अस्तित्व का उल्लेख मिलता है।[२४] इस प्रकार के तंतु वाद्य में एक तार एक ही स्वर के लिये नहीं होता। पाँच या सात तार तो सप्तस्वरों के लिये होते हैं और अन्य, स्वर को निनादित या गुंजित करने के लिये।

इस 'वाण' वीणा के अतिरिक्त सामवेद में पाँच अन्य वीणाओं का भी उल्लेख आता है।[२५] वे हैं अलाबुवीणा, वक्रावीणा, कपिशीर्षा, महावीणा तथा शालवीणा। इन विभिन्न प्रकार की वीणाओं के नामों को छोड़कर हमें उनका कोई विशेष वर्णन प्राप्त नहीं है। स्त्रियों के लिये कुछ विशिष्ट वाद्य बतलाए गए हैं।[२६] उनमें पिच्छोरा और कांड वीणा—ये दो प्रकार की वीणाएँ उल्लिखित हैं।

जातक, पुराण, तथा परवर्ती साहित्य में वीणा

जातक कथाओं में वीणा के बहुत से उल्लेख आते हैं। उनसे तत्कालीन वीणा का रूप बहुत कुछ स्पष्ट होता है। वीणा का तूंबा जिसे 'दोणी' कहते थे, चर्मावगुंठित रहती थी। यह लंबगोल होती थी। वीणा का दंड मुड़ा हुआ, अर्थात् सरल न होकर वक्र होता था। उसमें सात तार होते थे अतः उसे सप्ततंत्री या सत्ततंती कहते थे। वीणा संगीत का एक प्रमुख साधन था। यही नहीं, संगीतज्ञ की योग्यता भी उसके वीणावादन-पटुत्व से आँकी जाती थी। राजा ब्रह्मदत्त के सम्मुख संगीतज्ञों की श्रेष्ठता निर्णीत करने के लिये, वीणावादन प्रतियोगिता ही हुई थी।[२७] इसी जातक कथा से हमें वीणा के एक तार का शास्त्रीय नाम 'भमरतंती या भ्रमरतंत्री' भी ज्ञात होता है।[२८] मिलिंदप्रश्न में एक स्थल पर यह समझाने के लिये कि सदैव उन्हीं वस्तुओं की उत्पत्ति होती है जिनकी स्थिति

२३—द्रष्टव्य 'हार्प' का वर्णन, इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका।

२४—एन० वेंगलवरायन, 'म्यूजिक ऐंड म्यूजिकल इंस्ट्रुमेंट्स ऑव एंशंट तामिल', जर्नल ऑव द मीथिक सोसायटी, भाग २६ संख्या १ (न्यूसीरीज), पृ० ८४

२५—द्रष्ट० पा० टि० २२

२६—लाट्यायन श्रौतसूत्र, ४।२।८

२७—जातक सं० २४३

२८—वही, 'बोधिसत्तो भमरतंती छिंदि'''।

का प्रवाह पहले से चला आता है, नागार्जुन ने वीणा की उपमा का उपयोग किया है।[29] यहाँ हमें वीणा के अंगों का उल्लेख मिलता है। अन्य स्थलों पर मिलने-वाले उल्लेखों की सहायता से हमें वीणाओं का निम्नांकित ज्ञान मिलता है—[30]

द्रोणी, अंमण या भांड—वीणा का तूंबा।

चर्म—तूंबे पर कसा जाने वाला चमड़ा।

छिद्र—तूंबे पर तारों को पिरोने के लिये किए गए छेद।

दंड—वीणादंड।

कोण—वीणा-वादन का उपकरण। यह एक पतला आयताकार लकड़ी का टुकड़ा होता है जिसे अंगुष्ठ और तर्जनी के बीच पकड़कर उससे वीणा के तारों में झंकार उत्पन्न की जाती है। आवश्यकता पड़ने पर वीणा-दंड पर भी कोण द्वारा आघात कर शब्द उत्पन्न किया जाता था।[31] भरहुत के स्तूप पर एक चित्र में कोण का स्पष्ट दर्शन होता है।[32]

पट्ट—घुरुच या घोड़ी (ब्रिज)।

शिर—वीणा-दंड का ऊपरी भाग।

तंत, तंती या तंत्री—वीणा के तार।[33]

२९—मिलिंदप्रश्न ५३।

३०—ए० कुमारस्वामी 'द पार्ट्स ऑव वीना', जर्नल ऑव दि अमेरिकन ओरिएंटल सोसायटी, १९३१, पृ० २४७-२५३

३१—वही।

३२—बरुआ, 'भरहुत', भाग ३, फ० ३९।

३३—प्राचीन वीणा में आजकल-जैसे धातुनिर्मित तार नहीं बाँधे जाते थे। हम देख आए हैं कि वेद-काल में इस कार्य के लिये दर्भ या मूँज का प्रयोग होता था। आगे चलकर रेशम की डोरियाँ, बाल इत्यादि भी काम में लाए जाने लगे। यथा—

केशांत निर्मिता पट्टमयी सूत्रकृताथवा।
समा सूक्ष्मा दृढा तत्र तंत्री देया विचक्षणैः॥

ध्यान देने की बात यह है कि मुसलमानों के प्राचीनतम वाद्य 'रबाब' में भी तार के स्थान पर बारीक रेशमी डोरी ही काम में लाई जाती थी।

इसके सिवा ताँत का भी प्रयोग सर्वमान्य था।

उपर्युक्त वर्णन प्राचीन धनुर्वीणा की ही पुष्टि करता है। यह जातककालीन वीणा भी भरहुत तथा अन्य स्थलों में प्रदर्शित वीणा के ही समान होती थी।[३४] हाथियों को मोहित करने के लिये जिस वीणा का प्रयोग किया जाता था उसे हत्थिकंथ वीणा कहते थे।[३५]

जैन आचारांग सूत्र में, जो जैनियों के एकादश अंगों में सबसे पुराना माना जाता है (वि० पू० २५०), तंतुवाद्य के वीणा, विपंची, बद्धिसक, तुणक और तुंबवीणा या धंकुण—ये नाम मिलते हैं।[३६] परंतु इनका निश्चित स्वरूप नहीं जाना जा सकता।

रामायण में भी हमें वीणा का उल्लेख मिलता है।[३७] उसमें वीणाएँ संभवतः दो प्रकार की होती थीं—एक तो छः तारवाली और दूसरी सात तार वाली। संगीत में वीणा का उपयोग 'साथ' के लिये भी किया जाता था।

पुराण-काल के देवगण[३८] में ऐसे बहुत से देव हैं जो अपनी वीणा के कारण प्रसिद्ध हैं; जैसे सरस्वती, नारद, शिव इत्यादि। इनकी वीणाएँ भी भिन्न भिन्न मानी गई हैं; यथा—

शिव—लंबी या रुद्रवीणा	सरस्वती—कच्छपी
नारद—महती	गण—प्रभावती
विश्वावसु—बृहती	तुंबरु—कलावती

इसके अतिरिक्त चांडालों को चांडाल या कंडोल वीणा भी बतलाई गई है। हेमचंद्र ने भी वीणा के भिन्न भिन्न अंगों के नाम दिए हैं। इनमें और मिलिंद-प्रश्न की नामावली में, जहाँ तक लेखक का अनुमान है, केवल नाम-भेद है, वस्तु-भेद नहीं। हेमचंद्र के दिए हुए नाम ये हैं—

कोलंबक—वीणा का ढाँचा (फ्रेम)
उपनाह—तारों का निबंधन या खूँटी

३४—रतिलाल मेहता, प्री बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० ३१४।
३५—जातक सं० ५४५।
३६—जैकोबी, इंट्रोडक्शन टु दि आचारांग सुत्त, पृ० ४३
३७—इंडियन कल्चर, भाग ४ (जुलाई-अप्रैल १९३७-३८), पृ० ४५०।
३८—शब्दकल्पद्रुम, भाग ४ पृ०, ४६९

प्रांतवक्रकाष्ठ—दंड या घुड़च (?), यहाँ 'वक्र' शब्द ध्यान देने योग्य है।

मूल—तूंबे के अंतिम भाग पर बँधा हुआ वह छोटा सा टुकड़ा जिसके कारण वीणा के तार कसे हुए रहते हैं।

कलिका, कूणिका या वादन—कोण।

इसी प्रकार, विभिन्न देवताओं की भिन्न भिन्न वीणाओं के विषय में भी हम निश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि केवल नामोल्लेख से वस्तु-वर्णन पूर्ण नहीं हो पाता ; तथापि सरस्वती की 'कच्छपी' वीणा के संबंध में विद्वानों ने विभिन्न अनुमान किए हैं। कुछ विद्वान् कच्छपी वीणा को एक भिन्न प्रकार का तंतुवाद्य मानते हैं जिसका अस्तित्व अब भी जावा में है। इस वाद्य में पाँच तार हुआ करते थे। प्राचीन मिस्र में भी इसी प्रकार का एक वाद्य प्रचलित था।[३९]

उपर्युक्त भेदों के सिवा शब्दकल्पद्रुम[४०] हमें कुछ और भी वीणाओं के नाम बतलाता है ; जैसे विपंची, वल्लकी, सात तारोंवाली ध्वनिमाला, परिवादिनी, वंगमल्ली, विपंचिका इत्यादि। संगीतशास्त्र के उपलब्ध ग्रंथों में संगीतदर्पण (वि० सं० दसवीं शती) में कुछ अधिक भेदों का उल्लेख मिलता है।[४१] वे ये हैं—

अलावणी ब्रह्मवीणा किन्नरी लघुकिन्नरी।
विपञ्ची वल्लकी ज्येष्ठा, चित्रा ज्योषवती तथा॥
हस्तिका कूब्जिका कूर्मी शारंगी परिवादिनी।
त्रिशवी शतचन्द्री च नकुलौष्ठी च ढंसवी॥
औडंबरी पिणाकी च ········ ········ इत्यादि।※

३९—शिवराममूर्ति, अमरावती स्कल्पचर्स, पृ० १८५
४०—शब्दकल्पद्रुम, भाग ४, पृ० ३३१
४१—दामोदर, संगीतदर्पण।

※ रागकल्पद्रुम में इस विषय के उद्धरण इस प्रकार है—

सङ्गीतदर्पणे—

आलावणी ब्रह्मवीणा किन्नरीति निगद्यते॥
विपञ्ची वल्लकी ज्येष्ठा चित्रा घोषवती जया।
हस्तिका कुब्जिका कूर्मी सारङ्गी परिवादिनी॥
त्रिशरी शततन्त्री च नकुलोष्ठी च ढंसरी।
औडंबरी पिणाकी च निबन्धपुष्कलस्तथा॥

संगीतदर्पण दसवीं शताब्दी का ग्रंथ है। अतएव उसके लेखक ने प्राचीन काल से अपने काल तक जितनी भी प्रकार की वीणाएँ ज्ञात थीं उन सबके नाम गिना दिए हैं। उनमें प्राचीन धनुर्वीणा (पिनाकी) का भी नाम है और आधुनिक काल में प्रचलित 'सुरमंडल' का भी। इस उल्लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि दसवीं शताब्दी तक धनुर्वीणा भारत में प्रचलित थी। अब रही वीणा के अन्य प्रकारों की बात। इसके विषय में यह अनुमान है कि कुछ वीणाएँ, जैसे कपिशीर्षा, नकुलोष्ठी, हस्तिका इत्यादि अपने आकार-भेद के कारण तथा अन्य संभवतः वादन-पद्धति तथा स्वर-समूह की भिन्नता के कारण, एक दूसरे से भिन्न मानी जाती थीं। इस प्रकार के वीणा-भेद प्रचलित अवश्य थे। कालिदास ने भी इनमें से परिवादिनी और वल्लभी, दो का उल्लेख अपने ग्रंथों में किया है।[४२] संस्कृत साहित्य में वीणा के उल्लेख प्रचुरता से मिलते हैं। उनके आधार पर हम निम्नांकित बातें जान सकते हैं। वीणा पर कहीं कहीं सुवर्ण से पच्चीकारी का काम किया जाता था[४३] और उसे सर्वांगसुंदर बनाने का प्रयास किया जाता था। वीणा को गोद में रखकर बजाया जाता था।[४४] यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि कला में भी यद्यपि वीणा का अधिकतर अंक में रखकर बजाया जाना ही दर्शित कराया गया है तथापि कहीं कहीं खड़े होकर भी वीणा-वादन करनेवाली मूर्तियाँ हम पाते हैं।[४५] दूसरी अवस्था में धनुर्वीणाधारी कम दिखलाई पड़ते हैं, सरल दंडवाली वीणाओं के वादक अधिक। साहित्य से भी इस बात का प्रमाण मिलता है कि वीणा का प्रयोग नृत्य में बहुधा होता था।[४६]

सङ्गीतरत्नाकरे—

> वीणाघोषवती चित्रा त्रिपञ्ची परिवादिनी।
> वल्लकी कुब्जिका ज्येष्ठा नकुलोष्ठी च किन्नरी॥
> जया कूर्मी पिनाकी च हस्तिका शततन्त्रिका।
> ओदुम्बरी च षट्कर्णी पीनो रावणहस्तकः॥
> सारङ्ग्यालापिनीत्याद्यैः कुतपास्ततवाद्यकाः।

—संपा०

४२—कालिदास, रघुवंश, ५।२१, ८।३५; ऋतु सं०, १।८

४३—अश्वघोष, बुद्धचरित, ५।४८

४४—कालिदास, मेघदूत, ९१

४५—शिवराममूर्ति, अमरावती०, प्लेट ११, आकृति १।

४६—हेमचंद्र, कुमारपालचरित, २।६९

यहाँ तक उत्तर भारत में प्राचीन काल में प्रचलित वीणा के ऐतिहासिक विकास का संक्षिप्त विवेचन पूर्ण हुआ। दक्षिण भारत में भी वीणा का विकास अत्यंत मनोरंजक ढंग से हुआ है, उसका विवेचन भविष्य में किसी समय किया जायगा।[४७]

४७—मैं श्री वी० एस० सिथोले, लखनऊ तथा भातखंडे संगीत-विद्यालय के अध्यक्ष श्री रातंजनकर का चिरऋणी हूँ जिन्होंने यह लेख तैयार करने में समय समय पर मुझे अमूल्य परामर्श दिया। —लेखक

अंग्रेजी भाषा की व्युत्पत्ति

[श्री नारायण पांडुरंग गुणे]

प्रास्ताविक

इस लेख में भाषाशास्त्र की दृष्टि से अंग्रेजी भाषा की उत्पत्ति, व्युत्पत्ति और आर्य (आर्यन्), हिंदी और मराठी भाषा के साथ उसके संबंध पर विचार किया जायगा। अंग्रेजी का साम्राज्य समाप्त होने के साथ साथ हमारी बुद्धि पर आज दिन तक रहा हुआ उसका प्रभुत्व भी हट गया है; अब हम उस भाषा और उसके समृद्ध साहित्य के विषय में स्वतंत्र रीति से, तटस्थ होकर अपने विचार प्रकट कर सकते हैं। अपनी देशभाषाओं के साथ स्वतंत्र रीति से उसका तुलनात्मक अभ्यास कई दृष्टियों से उपयोगी होगा। अब 'सिंहिनी का दूध' आदि गौरवयुक्त विशेषणों द्वारा उसकी प्रशंसा करने की कोई आवश्यकता नहीं है; फिर भी संसार की एक श्रेष्ठ भाषा होने के नाते उसका शास्त्रीय दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। यदि उसके विषय में हमारे कुतूहल का उपशम हो गया तो बौद्धिक दृष्टिकोण से हमारी कुछ न कुछ तो हानि होगी ही। शास्त्रीय जिज्ञासा अखंड मानसिक युवावस्था का प्रतीक है।

अंग्रेजी भाषा श्रीयुक्त है। उसका शब्द-कोश विशाल है। पृथ्वी के एक विस्तृत भाग पर उसका आधिपत्य है। किंतु उसकी श्रेष्ठता केवल भौगोलिक परिसीमा पर स्थित नहीं है; उसकी आंतरिक श्रेष्ठता भी अपना महत्त्व रखती है। यह सब उस भाषा ने कहाँ से पाया? क्या इसके लिये केवल राजनीतिक परिस्थिति ही उत्तरदायी है? या और भी कोई कारण है? इन बातों पर यदि पूर्वग्रह छोड़ कर सम दृष्टि से विचार किया जाय तो हमें देशभाषा को समृद्ध बनाने का मार्ग मिल सकता है।

जागतिक और अंतर्राष्ट्रीय भाषा

हिसाब लगाया गया है कि युद्ध-पूर्व काल में जागतिक पत्र व्यवहार के पचास प्रतिशत पत्र अंग्रेजी में लिखे जाते थे। शेष पचास प्रतिशत में अन्य सब भाषाएँ थीं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि अंग्रेजी भाषा संप्रति केवल अंग्रेजों की ही

नहीं रह गई है। वह विश्व के अधिकांश लोगों के व्यापारिक और राजनीतिक व्यवहार की भाषा है। संसार में ऐसी कई प्रभावशाली भाषाएँ हैं जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार की भाषा बनने का श्रेय प्राप्त हो चुका है। प्राचीन काल में सुमेरी (सुमेरियन) भाषा इस प्रकार की जागतिक भाषा थी। उस काल के सैनिक, व्यापारिक और राजनीतिक व्यवहार की भाषा यही थी। इतना ही नहीं, अब इस बात का भी प्रमाण मिल चुका है कि आर्यों ने भी उस भाषा की चित्रलिपि अपनाई थी।

मध्य-पूर्व में 'बोघासाकी' में जो ऐतिहासिक महत्त्व के लेख पाए गए हैं उनसे भी इस कथन की पुष्टि होती है। उस काल की प्रमुख घटना है हिट्टाइट' नामक आर्यों द्वारा राज्य-संस्थापन का प्रयत्न। उन लोगों ने ही सर्वप्रथम शिक्षा द्वारा जंगली घोड़ों को युद्ध के उपयुक्त बनाने का शास्त्र बनाया। यही शास्त्र आगे चल कर इतिहास में अश्वविद्या कहलाया। यह शास्त्र आज आर्य भाषा में किंतु सुमेरी लिपि में लिखा हुआ उपलब्ध है। सुमेरी के बाद रोमनों की लटिन भाषा, कम से कम यूरप के लिये, अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक भाषा बनी। शताब्दियों तक वहाँ राज-काज में उसका व्यवहार होता रहा। मध्य युग में व्यावहारिक भाषा का स्थान लैटिन की कन्या फ्रेंच ने लिया। फ्रेंच भाषा कुछ कुछ पैनी है, इसलिये उसमें विचार स्पष्टता और निःसंदिग्धता के साथ प्रकट कर सकने की सुविधा अन्य कई भाषाओं की अपेक्षा कुछ अधिक है। अतः राज्य-विधान, नियम और व्यवस्था तथा भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के बीच के राजनीतिक संबंध एवं अन्य संकेतों की भाषा फ्रेंच बनी और वह अठारहवीं शती के अंत तक बनी रही। फ्रेंच समालोचक कहते थे—'अंग्रेजों का राष्ट्र दूकानदारों का राष्ट्र है, उनकी संस्कृति कमजोर और घटिया है, उनकी भाषा भी ठीक उसी प्रकार की है।' नेपोलियन बोनापार्ट स्वयं अंग्रेजों को दूकान-दारों का, बनियों का राष्ट्र कहता और फ्रांस की तुलना में उनको सदा नीचा बताता था, यह बात सर्वश्रुत है। बीसवीं शती के पिछले दो महायुद्धों के बाद इस अवस्था में पूर्णतया परिवर्तन हो गया। अंग्रेजी और फ्रेंच की प्रतियोगिता में फ्रेंच पिछड़ गई और अंग्रेजी की प्रगति जारी रही।

यूरप में अनेक भाषाएँ हैं जिनके अपने अपने विशेष गुण धर्म हैं। सभी भाषाएँ एक सी व्यवहृत नहीं हो सकतीं। कई भाषाओं की जानकारी रखनेवालों के लिये भाषाओं के गुण-धर्म की विभिन्नता जान लेना कठिन नहीं है। उदाहरणार्थ, संगीत और कला में इताली, तत्त्वज्ञान और शास्त्र-संशोधन में जर्मन, तथा

मानसशास्त्र, आलोचना और तर्कशास्त्र में फ्रेंच आदि भाषाएँ अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं रखतीं। फ्रेंच भाषा में व्यंजन मृदु और उच्चारण लयबद्ध होते हैं, इसलिये मानवी बुद्धि के साथ नर्तन करना उसके लिये सहज है। इसके विपरीत जर्मन भाषा है जो स्वभावतः स्थूल है। उसके व्यंजन कठोर होने के कारण तत्त्वज्ञान और युद्धशास्त्र के लिये वह अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई है। अंग्रेजी भाषा में न तो फ्रेंच भाषा का सा स्वरमाधुर्य और मृदु व्यंजनयुक्त शब्द-लालित्य है, और न तो ग्रीक या संस्कृत का सा माधुर्य और लालित्य का अभिजात संगम। ग्रीक और संस्कृत लोक और परलोक की भाषाएँ हैं। उनकी तुलना में अंग्रेजी भाषा ऐहिक व्यवहार के लिये उपयुक्त और जड़त्वयुक्त भाषा है। उसके स्वर मिश्र और व्यंजन कठोर हैं और उसमें 'स्' का शब्द अधिकतर सुना जाता है। 'स्' कार की अंग्रेजी में इतनी अधिकता है कि उसकी समता सर्प के फूत्कार से की जाती है। इस 'स्' कार ने ही उसका माधुर्य नष्ट किया है। किंतु अंग्रेजी में स्वराघात होने से वह कुछ परिमाण में गरिमायुक्त अवश्य कही जा सकती है। स्पेनी भाषा में यह बात नहीं पाई जाती। उसमें आघात का अभाव और स्वर ह्रस्व और तीव्र होने के कारण वह सुननेवालों के कान के पर्दे पर ग्रामोफोन की सूई सी टकराती हुई मालूम होती है। भाषा में घर्षण नहीं होना चाहिए। उर्दू 'ख़' का उच्चारण अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी कान में खटकता है। चीनी भाषा का प्रत्येक शब्द व्याकरण और उच्चारण की दृष्टि से स्वयं पूर्ण होता है। दो चीनी मनुष्यों की बातचीत सुनते ही या तो चिड़ियों की चहचहाहट की याद आती है या किसी सितार के सधे हुए तार पर उछलकर पड़नेवाले कपूर के गेंद के शब्द की। ग्रीक और संस्कृत में पाए जानेवाले संगीत का अर्वाचीन भाषाओं में अभाव ही है। संपर्क में आनेवाली अन्य भाषाओं से उपयुक्त बातों का स्वीकार करने की अपनी प्रकृति के कारण अंग्रेजी का स्थान भाषा तत्त्वविदों की दृष्टि में बहुत ऊँचा है। विश्व के रंगमंच पर उसका अवतरण अभी नया-नया है। शास्त्रीय दृष्टि से उसकी परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह न तो एकात्म है न स्वयंभू। वह परपुष्ट, परजीवी भाषा है। उसकी समृद्धि मँगनी की पोशाक है। उसकी सर्वभक्षकता प्रसिद्ध है। यदि हँसी ही उड़ानी हो तो हम कह सकते हैं कि अंग्रेजी भाषा अंग्रजों की नहीं, जर्मनों की है। किंतु इस हँसी में ऐतिहासिक सत्य का अंश भी कम नहीं है।

अंग्रेजी भाषा रूपी महानदी के उद्गम-स्थान की खोज करने का 'अव्यापारेषु व्यापार' करना चाहें तो हम किसी ऋषि के पास पहुँच जायँगे। रूपक हटाकर कहें

तो अंग्रेजी भाषा का मूल स्थान आर्य भाषा की एक यूरोपीय उपशाखा जर्मन या पुरानी जर्मन भाषा में पाया जायगा। अंग्रेजी भाषा का आर्य भाषा से जो निकट संबंध है उसे समझने के लिये बड़े बड़े ग्रंथों की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं, केवल 'ऑक्सफर्ड डिक्शनरी' पर एक दृष्टिपात करना उसके लिये पर्याप्त है। अंग्रेजी 'फ्री' शब्द की व्युत्पत्ति इसमें आर्य 'प्री' शब्द से प्राप्त हुई देखी जाती है। इसमें एक बड़े सिद्धांत का भी अंतर्भाव हुआ है। आर्य 'प्री' धातु से संस्कृत 'प्रेमन्' का निर्माण हुआ, और अंग्रेजी 'फ्रीडम' व्युत्पत्ति शास्त्र की दृष्टि से संस्कृत का प्रेमन् ही तो है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के, दूसरों के साथ होनेवाले मेल-जोल और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार का अर्थ अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? आर्य भाषा ने केवल इस एक शब्द में संसार को कैसा मूल्यवान् उपहार दिया है! किंतु दुःख की बात है कि यह जानने के लिये आजतक हमें अंग्रेजी की सहायता लेनी पड़ी और हम समझने लगे कि 'प्रेमन्' के साथ राजनीति चलाना हमने केवल अंग्रेजों से सीखा, 'फ्रीडम' हमें अंग्रेजों ने दी!

कुछ इतिहास

पिछले २०० वर्षों से हमें बताया जा रहा है कि भारत की तरह इंग्लैंड पर दूसरे राष्ट्रों द्वारा आक्रमण नहीं हुआ, पर यह बात मिथ्या है। इंग्लैंड पर लगातार ५००-६०० वर्षों तक बाहरी आक्रमण होते रहे। इन आक्रमणों में आर्य जाति के बहुत से कुलों ने भाग लिया और उनको विजय भी मिली। ये जत्थे जर्मनी में निवास करनेवाले आर्यों के थे। इन्होंने इंग्लैंड के आदिम निवासियों को देश के एक कोने में ढकेल दिया और उस देश पर अधिकार कर वहाँ बसना आरंभ कर दिया।

ये आक्रामक ट्यूटॉनिक जाति के थे। उनकी भाषा ट्यूटॉनिक ने उस काल में उदीच्य सागर के चारों ओर अपना प्रभुत्व जमाया था। इसी भाषा से आगे चलकर जर्मन, डच, फ्रिज़ियन, अंग्रेजी आदि भाषाओं की उत्पत्ति हुई। कई विद्वानों के मतानुसार ट्यूटॉनिक लोगों की भाषा और जाति आर्य है। आर्य, ट्यूटॉनिक और जर्मन तथा अंग्रेजी भाषा की तुलना की तालिका यह है:

(१) इन भाषाओं की वर्णमालाएँ (स्वर और व्यंजन), कुछ निश्चित अपवादों को छोड़कर, समान हैं। उनका अरबी या अन्य सभी (सेमेटिक) भाषाओं से कोई मेल नहीं है।

(२) इन भाषाओं के संबंधकारक के प्रत्यय एक से हैं।

उदाहरण—संस्कृत अस्—स्य; ट्यूटॉनिक और अंग्रेजी स्, इस्, ’स् (s, es, ’s)।

(३) क्रिया के मध्यमपुरुष एकवचन रूप समान हैं।

उदाहरण—संस्कृत स्थ; ट्यूटॉनिक और अंग्रेजी स्ट (st); ‘सिंगेस्ट’ (singest)=तुम गाते हो।

(४) कृदंत के भूतकालिक प्रत्यय समान हैं।

उदाहरण—संस्कृत आन; ट्यू० और अंग्रेजी अन्, बीट्—बीटन् (Beat-Beaten)।

(५) बहुत से शब्दों में भी साम्य है। उदाहरण—

सं०	अं०	सं०	अं०
चक्र	सायक्ल (Cycle)	धा	डू (Do)
प्री	फ्री (Free)	कन्या	हेन् (Hen)
पशु	पिक्यूनियरी (Pecuniary)	मृत, हिं० मरना	मर्डर (Murder)
नभस्	नेब्युलस (Nebulous)	दाघ	डाएग् डे (Daeg, day)
लुभ्	लव (Love)	जुष्	चूज (Choose)
ऊर्णा / ऊर्णवाभ	वूल (Wool) / वेब् (Web)	बन्ध्	बाइंड (Bind)
		मधु	मीड (Meed)
दुहितृ	डॉ (घ्) टर (Daughter)	विद्	विट्, विटान् (Wit, Witan)
सद्	सिट् (Sit)		
पूर्ण (फुल्ल)	फुल (Full)	भर्	बार्न (Barn)

यह तालिका केवल उदाहरण के लिये है, यों ऐसे शब्दों की संख्या अगण्य है। उपर्युक्त तालिका और अन्य बातों पर ध्यान देने से संस्कृत और अंग्रेजी का संबंध क्या है और वह किस प्रकार हुआ, यह स्पष्ट हो जाता है। ट्यूटॉनिक भाषा दोनों के बीच का सूत्र है।

ईसा की छठीं शताब्दी में इंग्लैंड में बसनेवाले ट्यूटॉनिक लोग सूर्य (सन), चन्द्रमस् (मून), थॉर् तथा बुध (वोडेन) आदि देवताओं के उपासक थे। वे लोग धीर, उदार और वीर योद्धा थे। उनको समुद्रपर्यटन बहुत प्रिय था। वे गौर वर्ण के और लंबे-चौड़े होते थे। उनकी मनोवृत्ति और स्वभाव वीरोचित था। शौर्य गुण सबसे बड़ा गुण माना जाता था। इसलिये उनकी स्वर्ग की कल्पनाएँ भी वीरों के योग्य थीं। उसमें प्रेमन् (फ्रीडम) की प्रमुखता होने पर भी शृंगार का अवडंबर नहीं है। उनके स्वर्ग के चित्र में धारातीर्थ में प्राणार्पण करनेवाले वीर (Wiros) पराभूत शत्रु के मस्तिष्क से बनाए हुए सुधाचषक (या कलश—Chalice) में अमृततुल्य मदिरा का सेवन करते हुए दिखाए गए थे। थॉर् (Thor) उनका इंद्र है। वह किसानों का देवता है। थर्सडे (Thor's-day—Thursday) उसका दिन है और मेघों की गर्जना उसका शस्त्र। वेनडे का अर्थ है वोडेन का दिन—बुध का दिन।

किंतु इंग्लैंड पर होनेवाले आक्रमणों का इतिहास यहीं समाप्त नहीं होता। यह बात सर्वश्रुत है कि जुलियस सीजर ने भी उस देश पर आक्रमण किया और उसको रोमन साम्राज्य का एक प्रांत बनाया। ब्रिटेन पर अंतिम आक्रमण हुआ विजयी विलियम का, जो नॉर्मंडी का ड्यूक या नवाब था। इन दोनों आक्रमणों के फलस्वरूप अंग्रेजी में फ्रेंच और लैटिन शब्दों ने प्रवेश किया।

अभ्यासकों की सुविधा के लिये इस इतिहास को कई कालखंडों में विभाजित किया गया है। प्रथम कालखंड को *पुरानी अंग्रेजी* का और द्वितीय को *अर्वाचीन अंग्रेजी* का कालखंड कहा जाता है। पुरानी अंग्रेजी (Anglo-Saxon = Old English) शुद्ध, स्वयंभू, संहित और प्रत्ययसुलभ है। इसमें समास पाए जाते हैं और इसका स्वरूप संस्कृत ही का सा है। अर्वाचीन अंग्रेजी ने प्रत्ययों का त्याग कर दिया है और वह व्यवहित बन गई है। अर्वाचीन अंग्रेजी का एक विशेष गुण है उसकी सर्वभक्षकता। पानी का शोषण करनेवाले स्पंज के समान इस भाषा ने अन्य भाषाओं के पूरे शब्द-समूह आत्मसात् किए और इस प्रकार अपनी शब्द-संपत्ति बढ़ाई। संसार में शायद ही कोई भाषा ऐसी हो जिससे अंग्रेजी ने एक भी शब्द न लिया हो। उसने मानव-जीवन के किसी भी क्षेत्र को अछूता नहीं छोड़ा। इसलिये पिछली तीन शताब्दियों में अंग्रेजी भाषा का विस्तार क्रमशः बढ़ता रहा है। हारूँरशीद के 'जादुई डेरे' के समान वह छोटे और कम महत्त्व के विषयों के लिये जितनी चलती-फिरती है, उतनी ही

महत्त्वपूर्ण और गंभीर विषयों के लिये उदात्त और विशाल। योग्य शब्द किसी भी भाषा से लिए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ चाकलेट (Chocolate) शब्द को लीजिए। वह विलासिनी स्त्रियों को बहुत ही पसंद आनेवाली एक मिठाई है। किंतु उसका वाचक यह चाकलेट शब्द मेक्सिको की आदिम विलासिनियों के शब्दकोश से पहले फ्रांसवालों ने लिया और उनके यहाँ से अंग्रेजी में आकर जम गया। ब्रिटेन के भूतपूर्व रणमंत्री विंस्टन चर्चिल के मुँह में सर्वदा विराजनेवाले 'चिरुट' की उत्पत्ति तामिल के शुरुट्टु' (=तमाकू के पत्तों में लपेटी हुई चीज) से हुई। इस प्रकार अंग्रेजी ने अन्य भाषाओं से सैकड़ों शब्द लेकर अपनी शब्द-संपत्ति में वृद्धि की।

फिर भी अंग्रेज अपनी भाषा से बहुत प्रेम करते हैं। उनके यहाँ के बड़े बड़े विद्वान् भाषा-शुद्धि की ओर काफी ध्यान देते हैं। शुद्ध अंग्रेजी भाषा में ऐंग्लो-सैक्सन भाषा और उसके शब्दों का ही व्यवहार किया जाता है। बारीकी से देखने पर मालूम हो जायगा कि अंग्रेजी के सब सर्वनाम शुद्ध हैं। उपसर्ग, शब्दयोगी अव्यय, कालदर्शक क्रियाएँ और अपश्रुति के नियमानुसार बननेवाले विशेषण शुद्ध ही हैं। कई संज्ञाएँ और क्रियाएँ परकीय—फ्रेंच, जर्मन, इटैलियन, लैटिन, ग्रीक—भाषाओं से ली गई हैं। फिर भी नित्य के सामान्य व्यवहार में खेती के काम में आनेवाले पशुओं और औजारों के लिये शुद्ध अंग्रेजी शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है। शुद्ध अंग्रेजी शब्दों की पहचान है उनका एकस्वरी और उच्चारण-सुलभ स्वरूप। एक से अधिक स्वरवाले और उच्चारण-क्रिया में एक मात्रा से अधिक काल की अपेक्षा रखनेवाले शब्द सरलता से परकीय कहे जा सकते हैं।

अंग्रेजी भाषा पर लैटिन भाषा का भी बहुत प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव का काल दो खंडों में विभाजित होता है। पहले खंड में लैटिन से राजनीति, सेना और कानून में व्यवहृत किए जानेवाले शब्द तथा गुरुता वा गांभीर्य वाचक शब्द आत्मसात् किए गए और दूसरे में धर्म, भक्तिमार्ग और अध्यात्म के। प्रथम खंड सीजर के रोमन साम्राज्य का काल है और द्वितीय संत आगस्टाइन का।

संत आगस्टाइन ब्रिटेन में ईसाई धर्म का प्रसार करना चाहता था। उसने राजा एथेलबर्ट को ईसाई धर्म की दीक्षा दी। इसी काल में सेंट (=लैटिन Sanctus), चैलिस (Chalice = कलश = चषक = लैटिन Calix) और 'ख्रिस्तमस्' के मस् (Mas L. Missal = I go) आदि शब्दों ने अंग्रेजी में स्थान पाया।

जित और जेता

अंग्रेजी में सामान्यतः पशुओं के नाम ऍंग्लो-सैक्सन से लिए गए हैं। उदा०–बुल्, काउ (सं० गौः), डीअर (Deer), ऑक्स (उक्षन्)। किंतु मांस से बनी हुई मसालेदार और स्वादु वस्तुओं तथा मिठाइयों के नाम नॉर्मन-फ्रेंच भाषा से लिए गए हैं—

बुल (O. E. Bull)	बीफ् (N. F. Beef)
डीअर (Deer)	वेनिज़न् (Venison)
स्वाइन् (Swine)	पोर्क (Pork)

इस बात से हम पता लगा सकते हैं कि नार्मन राज्यकाल में जित सैक्सन प्रजाजनों के हिस्से में कृषि और पशुपालन आया, जेता नॉर्मन वैभव-निदर्शक मिठाइयों के भागी बने। सपर, डिनर, लंच, फीस्ट (Supper, Dinner, Lunch, Feast), इन शब्दों की उत्पत्ति नॉर्मन् और फ्रेंच भाषा से हुई है। उस काल में प्रजा के भाग्य में अधभूखा रहना ही बदा होने से अर्धाशन का द्योतक ब्रेकफास्ट (Break-fast) उनकी भाषा में से अंग्रेजी में आया।

नॉर्मन लोगों ने राजनीतिक और सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन किया। सैक्सन भाषा पिछड़ गई। सैक्सन भाषा के केवल 'किंग' (=राजा) और 'कीन' (=रानी) शब्द बच गए। किंतु सेना, राजनीति और धर्म-व्यवस्था के काम में आनेवाले शब्द नॉर्मन से लिए गए। 'थीऑड' (=लोक) शब्द के स्थान पर 'पीप्ल्' शब्द आया। उसी प्रकार गुथ' (आर्य 'युध्') के स्थान पर वार् (war) शब्द आया। न्याय और कानून में प्रयुक्त होनेवाले अन्य शब्द फ्रेंच हैं। यथा, जज (judge), जस्टिस (justice), ज्यूरी (jury), अस्साइज़ (assize), मैरेज (marriage)। कौन कह सकता है कि नागरिक जीवन में हलचल का सस्ता साधन 'बस्' (bus) अंग्रेजी, परिच्छद में संस्कृत संप्रदानकारक का अनेक-वचन का रूप भ्यस् है (Omni + bus = सर्वे + भ्यः ; Virgini + bus = कुमारियों को) ?

अस्तु। नॉर्मनों के हिस्से में आए फल-फूल, और सैक्सनों के केवल घास और कटीली झाड़ियाँ। फिग (फल्गु), पेअर्, लिलि, ये लैटिन से आए हुए शब्द हैं; पर बेरी, गूज़बेरी और स्ट्रॉबेरी पुरानी अंग्रेजी से आए हैं। ऑरेंज शब्द अरबी और फारसी का है। अमरकोश में उसको 'नागरङ्ग' कहा गया है। अरबी नारंज्, फारसी नारिंग, अंग्रेजी ऐन् ऑरेंज = अ नारंज।

प्लेजर, डिलाइट्, जॉय् आदि शब्द नॉर्मनों के हैं। बेचारे सैक्सनों के लिये केवल आशा (होप) बच गई।

भाषा के मूल स्थान

क्षुधा, भावना और विचार, इन तीन रेखाओं से बने हुए किसी घन त्रिकोण की कल्पना की जाय तो यह स्पष्ट होता है कि अंग्रजी भाषा की शब्द-संपत्ति तीन उद्गमों से आई है। देहकर्मानुसारी चित्तवृत्तियों और क्रियाओं-इच्छा, आकांक्षा, क्षुधा, तृष्णा आदि—और जड़ वस्तुजात के निर्देश के लिये ऐंग्लो-सैक्सन (Anglo-Saxon) शब्दों का व्यवहार किया जाता है। धर्मभावनाएँ हिब्रू में प्रकट की जाती है) संस्कृति और मनन अथवा बौद्धिक जीवन के लिये आवश्यक शब्द-संपत्ति ग्रीक भाषा से ली जाती है। कायदा-कानून और फैशन के शब्द लैटिन और फ्रेंच से लिए जाते हैं। अंग्रेजों के जीवन में डबलरोटी और अंडे का जो स्थान है वही उनकी भाषा में स्कैंडिनेवियन और जर्मन शब्दों का। अंग्रेज फूलता-फलता है तो स्कैंडिनेवियन शब्द में (Thrive); बीमार होता है तो उसी भाषा के शब्द में (ill) और मर जाता है तो भी है उसी भाषा के शब्द में (Die)!

ऑट्टो येस्परसन् नामक अंग्रेजी वैयाकरण भी डेनिश (Dane) है। संस्कृत में 'वस्त्र' (Lvest) और 'कर्पट' में जो भेद है वही अंग्रेजी में 'कॉस्ट्यूम' (Costume, Drapery) तथा 'क्लोदिंग' (Clothing) में। आंग्ल कवि चॉसर (Chaucer जिसको अर्वाचीन अंग्रेजी कविता का पिता कहते हैं) की रचनाओं में वस्त्रों के लिये आए हुए सब शब्द नॉर्मन-फ्रेंच के हैं। किसान, गड़रिए और गुलामों के वस्त्रों के लिये सैक्सन शब्दों का व्यवहार होता है (Thrall, Villein, Shepherd)। उच्च कला और विद्याओं के वाचक शब्द नॉर्मन-फ्रेंच हैं। उदा०—आर्ट (Art), कलर (Colour) ऑर्नामेंट (Ornament), ब्यूटी (Beauty)। महलों के 'आर्च' (Arch मेहराब) और 'पिलर' (Pillar स्तंभ) तथा वास्तुकला के विविध प्रकार के वाचक शब्द (Palace, Caster, Cloistor) भी अन्य भाषा के हैं। हलवाई, लोहार, चर्मकार, पशुपाल, मछुए आदि के घरेलू उद्योग तथा शिल्प के लिये पुराने अंग्रेजी (Old English) शब्द हैं, किंतु जिन कारीगरों का राज्यकर्त्ताओं से संबंध था उनको फ्रेंच नामाभिधान प्राप्त हुआ। जैसे—बेकर (Baker), मिलर (Miller), शू-मेकर (Shoemaker), टेलर (Tailor), बुचर (Butcher)।

यद्यपि अंग्रेजी और ट्यटॉनिक भाषाएँ नॉर्मन और फ्रेंच भाषाओं से उपकृत हुई हैं फिर भी अंग्रेजी के साथ उनका संबंध दलाल का है। मूलत: ग्रीक और लैटिन शब्द इन भाषाओं द्वारा अंग्रेजी में आए। अंग्रजी ने अपने प्रत्ययादि से इनका संस्कार कर इन्हें अपने परिचित रूपों में अपनाया। जिस प्रकार भारतीय दरजी द्वारा सिले हुए यूरोपीय पद्धति के कपड़े पहननेवाला व्यक्ति 'देशी साहब' कहलाता है उसी प्रकार ग्रीक शब्दों का रूप भी अँगरेजी संस्कार द्वारा पलट जाता है। भाषाओं के आदान-प्रदान में यह बात प्राय: होती ही है। मुहावरों, वाकप्रचारों में भी परिवर्तन होता ही रहता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत 'हस्तामलक' मराठी में 'हाथ का मेल' हो जाता है।

अंग्रेजी व्यवहित भाषा है

एक दृष्टि से *चीनी* और *अंग्रेजी* भाषा की समानता की जाती है। भाषा के दो भेदों—संहित (Synthetic or agglutinative) और व्यवहित (Analytical)—में से चीनी भाषा व्यवहित है और उसी के समान अंग्रेजी भी। येस्परसन ने अपने ग्रंथ में एक चीनी द्वारा किया हुआ जहाज का वर्णन दिया है जिससे व्यवहित भाषा का रूप सरलता से समझ में आ सकता है—

'थ्ली पीस् बॉबू, टू पीस् पफ् पफ्, वॉक् अलाँग् इनसाइड् नो कैन् सी।'

(Thlee piece bamboo, two piece puff puff, walk along inside, no can see.)

उपर्युक्त वर्णन में अंग्रेजी शब्दों के स्थान पर हिंदी शब्द रखने से दोनों के बीच का भेद स्पष्ट हो जाता है—

'तीन टुकड़े बांबू, दो भाग पफ् पफ्, चलो अंदर, और न सकता देख।'

कारक-प्रत्यय, क्रिया-प्रत्यय, वचन आदि के प्रयोग से बननेवाले सामान्य रूपों का बिल्कुल अभाव होने पर भी चीनी भाषा में अर्थाभिव्यक्ति हो सकती है। इसका दूसरा प्रमाण मुझे बंबई में ताजमहल होटल के पास साँप और नेवले का खेल दिखाकर पेट पालनेवाले सँपेरे की बोली से मिला है। दोनों के झगड़े में साँप बहुत घायल हो गया। ताजमहल के कक्षों से यह दृश्य देखनेवाली गौरांगनाओं ने उत्तेजनार्थ कई सिक्के नीचे डाले। सँपेरे ने उनको 'सलाम' किया और अपनी अंग्रेजी भाषा की जानकारी दिखाने के लिये कहने लगा—'अच्छा साब, थँक् यू, स्नेक पुट वाटर' ('क्या साँप को पानी में डाल दूँ'?)।

भविष्य की भाषाएं

भाषा व्याकरण-शुद्ध होनी चाहिए, किंतु उसे व्याकरण के नियमों से बोझिल न बनाना चाहिए। उसके प्रवाह में रुकावट लाकर छोटे-मोटे गड्ढे बनाना ठीक नहीं। येस्परसन ने अपने ग्रंथों में लिखा है कि भाषा के व्यवहार में यदि तर्कशुद्धता और व्याकरण में संदेह हो तो तर्कशुद्धता को प्रथम स्थान देना चाहिए; 'व्याकरण के लिये व्याकरण' मानना ठीक नहीं है। आज के संसार की श्रेष्ठ भाषाओं की उत्क्रांति पर दृष्टि डालने पर यह कथन अनुचित तो नहीं प्रतीत होता। व्याकरण के लिये भाषा नहीं बनाई जाती, भाषा के लिये व्याकरण बनाया जाता है। विचार चलती हुई प्रवाहपूर्ण भाषा में व्यक्त किए जा सकते हैं। विचार-प्रवाह में बाधा डालनेवाला व्याकरण त्याज्य समझा जाना चाहिए। क्लिष्टता, अनियमित शब्दनिर्मिति और दुरूहता को हटाकर संसार की भाषाएँ सुलभता और तर्कशुद्धता की ओर वेग से प्रगति कर रही हैं।

जिन लोगों ने बच्चों को साबुन के पानी से बुद्बुद् बनाते हुए देखा होगा वे जानते होंगे कि उस खेल में दो प्रकार या विभाग हैं। प्रथम वह जिसमें नली द्वारा फूँकने से एक दूसरे से लगे हुए बहुतेरे रंगीन विविधाकार बुद्बुद् बनते हैं। ये बुद्बुद् गतिमान नहीं होते। द्वितीय, जिसमें बड़े बच्चे नली में छोटी-छोटी बूँदें लेकर धीरे धीरे फूँकते हैं; तब उससे तरह तरह के, अलग अलग हवा में तैरते हुए रंगीन गोले बन जाते हैं। शब्दों की अवस्था ठीक इन्हीं गोलों की सी है।

अर्वाचीन जगत् में भाषा और वाक्य-रचना में यही परिवर्तन होने से वह सुलभ बन रही है। क्लिष्ट और दुरूह गद्य साहित्य का भविष्य अंधकार में ही है। लंबे-लंबे वाक्य और समास-प्राचुर्य ने संस्कृत के गद्य साहित्य की कैसी बुरी दशा कर दी, यह कोई एंट्रेंस का विद्यार्थी भी जान सकता है।

भविष्य में सभ्य भाषाएँ अधिकाधिक सुलभ और व्यवहित बनेंगी। उन की गति मंदाक्रांता नहीं, द्रुतविलंबित होगी। सरलता से समझ में आनेवाले शब्द और छोटे छोटे, प्रायः जिनका उच्चारण एक साँस में हो सके ऐसे, वाक्य व्यवहृत किए जायँगे। सरल और एक स्वर युक्त शब्द जनसाधारण को अधिक प्रिय होने के कारण, इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रजातंत्र में ज्ञान-प्रसार के लिये उनका ही प्रयोग किया जायगा।

मेघदूत—एक दृष्टि

[श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल]

इस संसार में मेघ को कौन नहीं जानता ? निर्जन अरण्य के एकांत नीड़ में बैठे हुए पक्षि-शावक से लेकर राज-राज कुबेर के अनुचर गुह्यकों तथा सिद्धों तक में मेघ के लिये स्वागत और सम्मान है। स्थूल और सूक्ष्म, दृश्य और अदृश्य, निरिंद्रिय और सेंद्रिय—सभी पदार्थ मेघ के आगम से प्रभावित होते हैं। कवि ने उसे *साधु*[1], *सौम्य*[2], *सुभग*[3] और *आयुष्मान्*[4] कहा है। मेघ का आशीर्वाद सबके लिये एक सा है। उसके प्रसाद में सब भाग पाते हैं। उसका संचय त्याग के लिये होता है। प्रजाओं का पालन करने से मेघ *प्रजापति* है। उसका यज्ञ-द्वार सबके लिये खुला है, उसके सर्वस्वदक्षिण वितरण से सब लोग पुष्ट होते हैं। नीलाभिराम विष्णुरूप मेघ वर्षाऋतु में जितना अधिक सौभाग्य धारण करता है, लोकों की लक्ष्मी उतनी ही अधिक संपन्न होती है। मेघ की आयु सृष्टिकल्प के समान सनातन है। प्रजाओं के उद्भव, स्थिति, संहार—तीनों में उसका भाग है। मेघ अमर ब्रह्मचारी[5] है, इसलिये पुरातन होते हुए भी वह नित्ययुवा है। प्रति संवत्सर में वह अपना कायाकल्प कर लेता है। इस प्रकार सौम्य-सुभग-साधु-आयुष्मान् मेघ को यक्ष ने प्रीतिप्रमुख वचनों[6] से जो बड़ाई दी है, वह सर्वथा उसके योग्य है। मेघ जीवन-जल को अपने अंदर बद्ध रखता है, इसलिये वह *जीमूत* है। मेघ-जल से ही वनस्पति-जगत् पुष्ट होकर प्राण या विश्वव्यापी जीवन-शक्ति को अपने भीतर संचित करता है। पय ही सब औषधियों का सारभूत

१—एभिः *साधो* हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथाः । मेघदूत २।१७
अर्थात् हे साधु मेघ, हृदय में रखे हुए इन लक्षणों से उसे जान लेना।

२—श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता *सौम्य* सीमन्तिनीनां । मेघ० २।३७

३—सौभाग्यं ते *सुभग* विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती । मेघ० १।२९

४—तामायुष्मन् मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुम् । मेघ० २।३८

५—ब्रह्म नाम उदक का है (निघंटु १।१२)। उसके साथ विचरण करनेवाला मेघ ब्रह्मचारी है। ऋग्वेद में उषा को भी 'अमर्त्या पुराणी युवती' कहा है। ऋक् ३।६१

६—प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनैः स्वागतं व्याजहार । मेघ० १।४

रस है।[७] कृष्टपच्य और अकृष्टपच्य औषधियाँ ही पशुओं का संवर्धन करती हैं। विराट् प्रकृति में मनुष्य भी एक अन्नाद पशु है। इसलिये जीमूत मेघ सब प्रजाओं का स्वामी है। वह जल का सर्वत्र वहन करता है इस कारण *अंबुवाह* या *वारिवाह* नामवाला है। जल का मेहन करने के कारण उसे *मेघ* कहते हैं।[८] सौदामिनी तड़ित् उसकी कलत्र है, इससे यह *तड़ित्वान्* है। अर्धनारीश्वर शिव के समान अपनी प्रिया को अंक में लिए हुए वह नित्य व्योमविहारिणी विद्युत् के साथ स्फुरण करता देश-देश में घूमता है। वृष्टि का कारण मेघ नहीं, विद्युत् है। वृष्टियज्ञ में विद्युत् का ही यजन किया जाता है, क्योंकि वही जल और अन्नादि देने का सामर्थ्य रखती है—

वृष्टिर्वैयाज्या विद्युदेव, विद्युत् हीदं वृष्टिमन्नाद्यं संप्रयच्छति। (ऐ० ब्रा० २।४१)

बिना लक्ष्मी के विष्णु और बिना पार्वती के शिव से किस कल्याण की आशा हो सकती है? मेघ की संज्ञा धूमयोनि भी है क्योंकि वह नित्य धूम से उपचित वपु[९] होता है। लिखा है—

अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिः। (शतपथ० ५।३।५।१७)

वायु के प्रहार को जो धैर्य से सहता है वही *घन* है। उसके अंदर जलराशि भरी हुई है, इसलिये कवि ने उसे '*स्तम्भितान्तर्जलौघ*'[१०] कहा है। सृष्टि का उपकार करनेवाले मेघ वे ही हैं जिनकी कुक्षि में अथाह जल के अर्णव भरे हैं। जल की संज्ञा वृष होती है। जिन मेघों में वृष नहीं उनका जन्म निष्फल है। पुरुष शरीर में जल का रूप वीर्य है।[११] जिनके पास पुष्कल वृष का संचय है उन्हीं में गौरव है। आगे चलकर कवि को घन के गौरव से एक पुण्य-साधन कराना है। प्रभूत जलराशि वाले अनंत वृषशक्तिमय मेघ के ही सोपान पर पैर रखकर शिव

७—एष हवै सर्वासामोषधीनां रसो यत्पयः। कौषीतकी ब्रा० २।१

८—मेघः कस्मात् मेहतीति। निरुक्त।

९—धूम ज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः। मेघ० १।५

और भी

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपैः। मेघ० १।३२

१०—भंगीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः। मेघ० १।६०

११—आपः रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्। ऐतरेय उपनिषद्।

मणितट[१२] पर आरोहण करते हैं ; निचुड़े हुए मेघों का वहाँ कुछ प्रयोजन नहीं। इंद्र-शक्ति से शून्य इंद्रियोंवाले पुरुषों में संयम और तप भी कृतकार्य नहीं होते। बलाका-मिथुन[१३] गर्भाधान का उत्सव मनाने के लिये मेघोपस्थान अर्थात् मेघ की सेवा करते हैं, इसलिये इंद्र के प्रधान पुरुष की एक संज्ञा *बलाहक* भी है। इस प्रकार *जललवमुच् पयोद* का नामकरण उत्सव कोषकारों ने मनाया है।

निरुक्तकार यास्क भी इस संस्कार के एक ऋत्विज हैं (निघंटु, अध्याय १ खंड १०)। उनके अनुसार मेघ की एक संज्ञा *वृषंधि* है। कालिदास ने इंद्र को वृषा कहा[१४] है और मेघ मघवा इंद्र का प्रतीत पुरुष है[१५]. इसलिये उसे वृषंधि होना ही चाहिए।

उक्त आचार्य ने मेघ को *वराह* भी कहा है—

अद्रिः······पर्वतः गिरिः ······वराहः ···इति मेघनामानि।

(निघंटु १।१०)

पौराणिक कहते हैं कि वराह भगवान् ने हिरण्याक्ष दैत्य का संहार करके सलिलार्णव से पृथिवी का उद्धार किया था। देखना चाहिए कि सृष्टि की खोज करने वाले पंडितों ने मेघ के वराह रूप को कैसे समझा था। वराह शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

वरम् आहन्ति इति वराहः

अर्थात् जो वर का आहनन करे वह वराह है। वर नाम सूर्य का है। उसके तेज का जो प्रतिबंधक हो वही वराह नाम से पुकारा गया। सृष्टि के आदि में तपते हुए सूर्य की संज्ञा हैमांड, हिरण्यगर्भ या हिरण्याक्ष थी। सूर्य जब तक अप्रतिहत भर्ग से चमकता रहा तब तक लोक-लोकांतरों की कल्पना असंभव थी। अलंकार रूप से मानो उसने पृथिवी आदि लोकों का अपनी कुक्षि में संहार कर लिया था। उसके तैजस वपु से सृष्टि-प्रक्रिया आगे चलाने के लिये वराह की आवश्यकता

१२—कालिदास का मणितट ही योग का मणिपद्म, मणिकर्णिका अथवा ऊर्ध्व मस्तिष्क है।

१३—गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः।
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः। मेघ० ११९

१४—तपः कृशामभ्युपपत्स्यते सखीं, वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम्। कुमार सं० ५।६१
वृषा वा इन्द्रः। कौषीतकी ब्राह्मण २०।३

१५—प्रकृतिपुरुषं मघोनः। मेघ० ११६

हुई। उस सूर्यमंडल को चारों ओर से तैजस वाष्पीय मेघों ने परिवृत कर लिया था। कालांतर में जब ऊष्मा का ह्रास हुआ तथा सूक्ष्म तैजस वाष्प स्थूल जल आदि के रूप में परिणत हुई, तब क्रमशः गुरु तत्त्वों के संयोग से पृथिवी का जन्म हुआ। वैज्ञानिकों के मतानुसार युरेनियम आदि विद्युत्स्फुलिंगी[१६] तत्त्वों को जो सूर्य में पाए जाते हैं, क्रमशः अपना रूप परिवर्तन करके स्थूल धातुमयी आकृति ग्रहण करने में हजारों-लाखों वर्षों का समय लगा होगा। यही हमारी सृष्टि का वाराह कल्प था। भारतीय दर्शन में पिंडगत चेतना की तुरीय, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् ये चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं। इन्हीं से मिलती हुई ब्रह्मांडव्यापी चेतना की चार अवस्थाएँ हैं—ब्रह्म, ईश, हिरण्यगर्भ और विराट्। हिरण्यगर्भ दशा से विराट् दशा में आने के लिये ही वराह की आवश्यकता हुई। हिरण्यगर्भ दशा में प्रकृति तत्त्व संचित था। विराट् होने के लिये, अर्थात् देश में व्यापक होने के लिये उसका उप-बृंहण स्वयंभू ब्रह्मा ने किया[१७]। उस विद्युत् के महार्णव में अपने-आपको विस्तारित करने की शक्ति अपने भीतर से ही उद्भूत होती है। उसके कारण परमाणु बहिर्मुख होकर विकीर्ण होने लगते हैं और उनसे क्रमशः लोक-लोकांतरों की सृष्टि होती है। इस जगत् में सामान्य मनुष्य से लेकर बड़े से बड़े ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और कवि तक, सभी मेघ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। किसी वैज्ञानिक के पास जाकर पूछो, "मेघ क्या है?" उसका यही उत्तर होगा—

"धूम ज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः मेघः"

अर्थात् मेघ केवल धुआँ, आग, पानी और हवा का जमघट है। अपने हिसाब से उसे बड़ा संतोष है कि प्रकृति के गूढ़ नियमों के पांडित्य द्वारा केवल उसने ही सत्य को खोज पाया है। वायु में धुएँ के रूप में सूक्ष्मातिसूक्ष्म रजःकण व्याप्त रहते हैं। मरुत् के संघर्ष से ये कण विद्युत् से परिगृहीत हो जाते हैं। तब वाष्प-रूप से

१६—विद्युत्स्फुलिंगी = रेडियो ऐक्टिव

१७—तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥ मनु०

इसी में नारी और पुरुष दो भेद हुए, अर्थात् इलेक्ट्रोन और प्रोटोन कहलानेवाली दो प्रकार की शक्ति हुई जो मूल में एक ही है। सारा जगत् इन्हीं दो में बँटा है—प्राण, अपान; स्त्री, पुरुष; रयि, प्राण; दो अश्विनौ; मित्रावरुण; अग्नीषोम आदि। धन और ऋण विद्युत् का भेद कार्यकाल समुत्पन्न है, वस्तुतः विद्युत् एक ही है। शिव और शक्ति भी मूल में एक हैं; वे द्विधा भिन्न प्रतीयमान होकर कार्य करते हैं, जैसे चुंबक के दो ध्रुव होते हैं।

अंतरिक्ष में व्याप्त जल को वे अपने ऊपर आकृष्ट कर लेते हैं। इस प्रकार मेघ बन कर जल वृष्टि के योग्य हो जाता है। कल्पना अक्षरशः सत्य होते हुए भी कितनी नीरस है। वैज्ञानिक प्रकृति को ऐसी ही अवस्था में देखता है। प्रकृति के विभूतिमय गुणों पर मुग्ध होकर मनुष्य में आश्चर्य करने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वैज्ञानिक अपने रहस्य-विवरण द्वारा उसका मानमर्दन करना चाहता है। उसके लिये मनोभावों का अस्तित्व जैसे है ही नहीं, मानो भरद्वाज पक्षी के विज्ञानात्मक वर्णन में निरत विद्याव्यसनी उन अनंत लोकों को भूल जाता है जिनके नित्य नित्य पर्यटन में ही पखेरू का जीवन है। केवल मात्र सत्य की खोज में भावना से हाथ धो बैठना ही वैज्ञानिक के भाग्य में बदा है। यदि सच पूछा जाय तो आज तक निरपेक्ष सत्य की उपलब्धि किसे हुई है? इसी लिये कवि लोग संभावित सत्य को मनोभाव और कल्पना के वर्णव्यंजक छंद-पात्रों में भरकर मानवी हृदय को आनंद प्रदान किया करते हैं। रससिद्ध कवि को भी यदि विज्ञानानुगत विमर्ष से ही शांति मिल सकती होती तो मेघदूत जैसे काव्य का जन्म ही न होता।

'धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः'

की समालोचना जब कवि ने की, तो यह वर्णन उसे अत्यंत फीका मालूम हुआ। उसने उसके आगे अपनी संमति के दो पद रख दिए—क्व मेघः?

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः!

अर्थात् हे वैज्ञानिक, तेरा मेघ—धुएँ, आग, पानी का विच्छिन्न टुकड़ा—कितना हेय और निकृष्ट है। 'क्व' पद की व्यंजना अत्यंत तीव्र है। कविता और विज्ञान के संदर्भ में अथवा सत्य और कल्पना के द्वंद्व में कवियों ने सब देशों और सब कालों में अपने विपक्षियों के प्रति जो तिरस्कार का भाव प्रगट किया है, वह कालिदास के 'क्व मेघः' इन दो शब्दों में सरलता और तेजस्विता से व्यक्त हुआ है। अचेतन प्रकृति को भी मनोभावों के संपर्क से चेतन बना देने में ही कवि का महान् कौशल है, इसी लिये घाम, धूम, नीर और समीरों के संनिपात में अनंत विश्व की कल्पना कालिदास कर सके।

और ऐतिहासिक?—ऐतिहासिकों के लिये मेघ क्या हो सकता है?

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्। (१।६)

अर्थात् पुष्कर और आवर्तक मेघों के विश्वविश्रुत वंश में तुम उत्पन्न हुए हो। वंशावली निर्माण करके उसे भुवनविदित सिद्ध करने के लिये गुणगाथाओं का गान

करते करते ही इतिहास के पंडितों की आयु निःशेष हो जाती है। अपने पूर्व गौरव का परिचय पाकर जो प्रसन्नता होती है वही इतिहास का आनंद है। परंतु इतिहास की जड़ीभूत घटनावली और काव्य की अमर कल्पना में क्या संबंध है? नव-नवोन्मेषवाली प्रज्ञा इतिहास के जड़ अभ्यास से अपने-आपको कुंठित क्यों करने लगी? कवि-कल्पना का अवतार तो किसी अन्यतम आनंद की व्यक्ति के लिये होता है।

हमारा यक्ष याचक[१८] की हैसियत से मेघ के सामने आता है। मेघ का मागध बनकर वह अपने दाता को प्रसन्न कर लेना चाहता है। उसने अपने मनोनीत दूत को कुलीनता का प्रमाणपत्र दिया। कुल के साथ शील है और शील[१९] का एक लक्षण शरणागतरक्षा या शरण्यता है[२०]। यक्ष पुष्करावर्तक वंश की बड़ाई जानता था—

> आवर्तके महावर्तः संवर्तो बहुतोयदः।
> पुष्करे चित्रिता वृष्टिर्द्रोणोऽपि बहुवारिदः ॥[२१]

अर्थात् *आवर्तक* मेघों में बड़े बड़े भँवर पड़ते हैं, *संवर्त* में जल-संचय होता है, पुष्कर में चित्र-विचित्र वृष्टि होती है तथा *द्रोण* संज्ञक मेघ अपरिमेय जलराशि के स्वामी होते हैं[२२]।

१८—तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं। ११६

१९—संतप्तानां त्वमसि शरणं। ११७

२०—हारीत के अनुसार शील के तेरह गुण हैं—
ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयता, मृदुता, अपारुष्य, मैत्रता, प्रियवादित्व, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्य, प्रशांति।

२१—बृहज्ज्योतिःसार।

२२—विज्ञान के अनुसार मेघों के चार भेद हैं। उनके अंग्रेजी नाम इस प्रकार हैं—

'सिरस', 'क्यूमुलस', 'स्ट्रेटस,' 'निंबस'। इन्हीं के परस्पर संमिलन से और अवांतरभेद हो जाते हैं। सिरस मेघ पाँच से दस मील की ऊँचाई पर सबसे ऊपर रहते हैं। इनमें छोटे हिमकणों के समुदाय की परतें फैली रहती हैं। क्यूमुलस मेघ त्रिकोण रूपवाले होते हैं। इनकी ऊँचाई भूमि से एक मील ऊपर होती है। इनमें हवा की भाप ठंढी होकर फिर जलीय रूप ग्रहण करने लगती है। स्ट्रेटस मेघ बहुत नीचे और फैले हुए होते हैं। ये नीहारात्मक होते हैं और इनके उदय से दिशाएँ प्रसन्न और ऋतु सौम्य समझी जाती है। निंबस मेघ घने, काले, जलराशि से भरे होते हैं। इन्हीं से वृष्टि मूसलाधार होती है।

और भी,

यज्ञजास्तु घना घोराः पुष्करावर्तकादयः[२३]

अर्थात् पुष्करावर्तक मेघों की महिमा उनके यज्ञसमुद्भूत होने के कारण है। वैज्ञानिक को मेघ का निर्माण करने के लिये केवल धुआँ चाहिए, परंतु सहृदयजन उसे यज्ञधूम कहते हैं। संभव है प्राचीन लोगों ने वायु के सूक्ष्म धूलिकणों को हव्य वनस्पतियों के सूक्ष्म विकरण द्वारा विद्युत्परिगृहीत करके वृष्टिलाभ करने में सफलता प्राप्त की हो। पर कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि यज्ञ में अनेक सदाशाओं और दाक्षिण्ययुक्त भावनाओं का सन्निवेश होता है। उन पुण्य अभिलाषाओं को लेकर यज्ञ-धूम ऊपर उठता है और धूमयोनि मेघ में मिल जाता है। प्रकृतिरूपी वेदी में नव मास तक सूर्य की रश्मियाँ जिस यज्ञ का विधान करती हैं उसी के दाक्षिण्य फल से युक्त पुष्करावर्तक मेघ सर्वस्वदक्षिण व्रत लेकर विश्व भर को जीवन-जल प्रदान करते फिरते हैं।

वैज्ञानिक और ऐतिहासिक के अतिरिक्त किसी गाँव में जहाँ कृषि ही जीवन का आधार हो, जाकर मेघ का रहस्य पूछो तो कुछ ऐसा उत्तर मिलेगा—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः।
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः॥ (१।१६)

हे ग्रामवासी जीवो, तुम्हारा मेघ के साथ कौन सा प्रेम है? वे कहते हैं—हमारी वधुओं के लोचन मेघ के अभिराम रूप का इसलिये पान करते हैं कि मेघ ही कृषि का प्रवर्तक है। मेघ के आने में कदाचित् एक मास की भी देर हो जाय तो सारी वन-प्रकृति आँखें फाड़कर आकाश की ओर निहारने लगती है। मेघ का सुधावर्षण उसके नेत्रों के लिये अमृतद्रव है। अतः मेघ को गाँवों में जो स्वागत मिलता है वह कहीं अधिक स्वाभाविक, सरल और प्रीति-स्निग्ध होता है। पौरांगनाएँ तो कटाक्षों से मेघ के साथ विलास करती हैं। उज्जयिनी की उन्मादिनियों के पास मेघ को इसके सिवा और क्या मिलेगा—

विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां।
लीलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥ (१।२७)

उद्दाम नागर रमणियों और पुरुषों के लिये मेघ वासना को बढ़ानेवाली सामग्री

२१—कल्पलता

है। मेघ के रस-निषिंचन के साथ उनका भी परिमलोद्गिरण होने लगता है।[२४] पर गाँववाली वधुएँ भ्रूविलासों की वक्र गति से नितांत अनभिज्ञ होती हैं। वे पूज्य और परोपकारी अभ्यागत के योग्य प्रेम से सने भावों से मेघ का स्वागत करती हैं। वे उसके दर्शनों से पुलकित होकर उसे सौ-सौ बार असीसती हैं—'हे बरस-बरस दिन आनेवाले यात्री, तुम्हारी बड़ी आयु हो, तुम सदा इसी भाँति हमारे घरों में आते रहो।' यदि यह पूछा जाय कि वृष्टि किनकी शुभ कामनाओं का अनुकूल फल है, तो हमारी उँगली इन्हीं भोली भाली ग्राम-वधूटियों की ओर उठेगी। भ्रूविक्षेपकुशल पौरांगनाओं के उच्छृंखल उद्दीपन की अस्थिर कामना पर मेघ-मालाओं का आकाश में एकत्र होना निर्भर नहीं है। जिन जनपदों का जीवन संयम-सूत्र में दृढ़ता के साथ बँधा हुआ है, उन्हीं के घनगात्र निवासियों पर राष्ट्र की संपत्ति की अभिवृद्धि निर्भर है। वहीं के स्त्री-पुरुषों को मेघागम के रहस्य का गहरा अनुभव प्राप्त होता है। वनस्पति जगत् और पशु-जगत् में मेघ के कारण जो परिवर्तन होते हैं, उनके साक्षी कृषक ही हैं। कृषि को ब्राह्मण-ग्रंथों में सर्व-देवतामयी[२५] कहा गया है। सूर्य, मरुत, मेघ या इंद्र, पशु, पक्षी, राजा, प्रजा—ये सभी जब वीणा के तारों के समान एक स्वर में अनुकूल हो जाते हैं तभी कृषि या राष्ट्रकृत् अन्न की संप्राप्ति होती है।

उपर्युक्त विशेषज्ञों के अतिरिक्त सामान्य पुरुष जब ऊपर आँख उठाकर देखते हैं, तब उन्हें सरसरी तौर पर मेघ के केवल वर्ण और परिमाण ही दिखाई देते हैं। उनके लिये कवि ने कहा है—

> आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं।
> वप्रक्रीडा परिणतगज प्रेक्षणीयं ददर्श ॥ (१।२)

अर्थात्, मेघ क्या है, केवल एक काले भीमकाय हाथी के समान हूँसा मारने और धुंध मचानेवाला जीव है। मेघ और हाथी का संबंध बहुत पुराना है। प्रकृति में वृष्टि करनेवाले नियमों का ही समुदित नाम इंद्र है। इस इंद्र का वाहन ऐरावत हाथी है। हमारा *अभ्रमातंग* मेघ भी इंद्र का प्रधान पुरुष कहा गया है (मेघ० १।६)।

२४—यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
उद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि। मेघ० १।२५

२५—सर्वं देवत्या वै कृषिः। शतपथ० ७।२।२।१२

संस्कृत में 'इरा' जल को कहते हैं। इरा का जो अक्षय भंडार है, उस जलधि की ही संज्ञा इरावान् है। उस इरावान् में जो जन्म ले, वही ऐरावत है—

इरा आपः, इरावान् समुद्रः, तत्र भवः ऐरावतः अभ्रमातङ्गः।[१६]

यह ऐरावत हाथी हमारा अभ्रमातंग मेघ है, क्योंकि दूर से इसका आकार मातंग के सदृश लगता है। पुराणों के अनुसार भी इंद्र का हाथी ऐरावत मेघों के साथ विचरता है। मेघ को अभ्र इसलिये कहते हैं कि इसमें जल का भस्म वाष्परूप में जमा होता है। यथा—

अभ्रं वा अपां भस्म। (शत० ७।५।२।४८)

धूमो भूत्वा अभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति।

(छांदोग्य उपनिषद् ५।१०)

अर्थात् सूर्य-ताप के संयोग से जल भस्म होता है। उसकी पहली आकृति वाष्पधूम की होती है जिसे अभ्र कहते हैं, क्योंकि वह जल को अपने अंदर धारण करता है। यही अभ्र जब अंतरिक्षगामी होता है, तब सांघातिक रूप में *मेघ* की उपाधि ग्रहण करता है। मेघ होने से इसे मेहन या सिंचन की योग्यता प्राप्त होती है। इरावान् समुद्र में जन्म लेने के कारण *ऐरावत* और जलों को अपने अंदर धारण करने से *अभ्र*—एक ही अर्थ दो रूपों में सुंदरता के साथ व्यक्त हुआ है। वर्ण, परिमाण और क्रिया में सादृश्य के कारण[१७] मेघ का सबसे अच्छा उपमान हाथी ही है। इसी अभ्रमातंग ऐरावत का जन्म अन्यत्र पुराणों में समुद्र-मंथन के समय उदधि से बताया गया है। अपने अभ्र-वाहन का आश्रय लेकर इंद्र समुद्र से उठकर आकाश में आते हैं। वहाँ जब पुष्करावर्तादि मेघ खड़े होकर मठारते और गरजते हैं, तब सामान्य जन प्रायः कहा करते हैं कि आज इंद्र अपने वाहन पर चढ़कर आए हैं, इससे वृष्टि होगी। इस देश के इंद्र का वाहन ऐरावत पूर्वी दिशा का अधिपति दिग्गज है। पूर्वी दिशा का नाम ही ऐंद्री दिशा है, क्योंकि भारत-

---

१६—मल्लिनाथ, रघुवंश की संजीवनी टीका, १।३६

और भी, अमरकोष–'ऐरावतोऽभ्रमातंगः'।

१७—गजैश्च घनसन्निभैः–रघुवंश, ४।२९

इसपर 'संजीवनी'—वर्णतः क्रियातः परिमाणतश्च।

माता का श्यामल अंचल प्राची के अनिलों से ही विकंपित होता है। यहाँ की वृष्टि का अधिकांश भाग बंग महोदधि से उठनेवाली हवाएँ ही लाती हैं। हमारा आधिदैविक इंद्र और उसका वाहन ऐरावत दोनों ही अंततः मेघ के नाम हैं।

कोश में ऐरावत की पत्नी का नाम अभ्रमु है। अभ्रमु की व्याख्या कई प्रकार से की जाती है। अभ्र की जो सौंदर्य-श्री उसके प्रकृति-सुभग शरीर में व्यापक है, जो उसकी स्तनितच्छवि है, किंवा जो जल-निर्भर मेघ की मंथरता है, वही अभ्रमु है।[२८] अन्यत्र, ऐरावत की पत्नी अभ्रमु विद्युत् का ही एक नाम है। इस प्रकार विद्युत्कलत्र[२९] या विद्युत्वंत[३०] मेघ और ऐरावती-प्रिय ऐरावत एक ही पदार्थ हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि जिन मेघों में विद्युत् नहीं है वे पानी नहीं बरसा सकते। विद्युत् रूप शक्ति से ही मेघों में विद्योतन और गंभीर गर्जन का सामर्थ्य उत्पन्न होता है—

विद्युद्वा अपां ज्योतिः। (शत० ब्रा०)

वियोगी यक्ष ने चलते-चलते मेघ को यही आशीर्वाद दिया है कि क्षण भर के लिये भी तुम्हारा अपनी सहचरी विद्युत् से वियोग न हो।

मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः। (मेघ० २।५१)

अर्थात् हे मेघ, जिसे तुम अंक में धारण किए रहते हो उस विद्युत् से कभी बिलग मत होना। उससे विप्रयुक्त होकर तुम्हारी श्री, तुम्हारा 'मेघ' सब शून्य में विलीन हो जायगा। मेरे समान कांता-विश्लेषित तुम जिस देश में जाओगे, वहाँ दुःख ही दुःख पाओगे। सुसमय और संपत्ति की जगह दुष्काल देखोगे। वहाँ तुम्हारा अपना सौंदर्य भी तिरोहित हो रहेगा। फिर प्रीति-स्निग्ध नयनों से तुम्हारा स्वागत कौन करेगा? तुम्हें देख-देख प्रमुदित होने के स्थान में लोग रोएँगे और तुम्हारी उस प्रिया सौदामिनी को याद करेंगे।

यह सुदामा पर्वत की पुत्री कभी वलयाकार में चमक पड़ती है,[३१] तो कभी

---

२८ अभ्रे खे माति, न भ्राम्यति वा मन्थरगामिनीत्वात् इति अभ्रमुः। अमरकोष रामाश्रमी टीका।

२९—विद्युत्कलत्र। मेघ० १।१८

३०—विद्युत्वन्तम्। मेघ २।१

३१—विद्युद्दाम स्फुरित चकितैः। मेघ १।२७

नेत्रों को चकाचौंध करनेवाला चणप्रभा का चंचल तेज चमकता है और कभी वही खद्योतों की पंक्ति के समान अल्पाल्पभास से विलसित होती है—

> अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
> खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् । (२।१८)

मेघ का वर्ण— वर्षा-काल के मेघों की उपमा कज्जल के पहाड़ों से दी जाती है। हमारा मेघ भी चिकने घुटे अंजन की आभावाला है (स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे, १।५९)। वह अत्यंत सुंदर है।[३२] वर्षा ऋतु में तो उसकी शोभा और भी द्विगुणित हो जाती है।[३३] मेघ ही क्या, पुरुष, स्त्री, वृषभ, अश्व सभी जब वृष-शक्ति से भर जाते हैं तो उनका वर्ण स्निग्ध श्याम और परम अभिराम हो जाता है। मेघ की शोभा को पूर्णतया कह सकना असंभव है, इसलिये कवि ने उसकी उपमा शिव के कंठ की छवि से दी है—

> भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः । (१।३३)

अपने स्वामी की शोभा के दर्शनाभिलाषी शिव-गण प्रकृति में जिस पदार्थ को उस श्री से श्रीमान् देखते हैं उसी के रूप का जी भरकर पान करते हैं। जिनके नेत्रों में शिव के कंठ की वर्ण-विभूति समाई है वे जहाँ उसका आभास भी पाते हैं, उसपर निछावर रहते हैं। आदित्य, चंद्रमा और विद्युत् की प्रभा जहाँ भासमान नहीं होती, उस शिव की बहुल ज्योति की एक रश्मि के दर्शन भी यदि मेघ में भक्तों को प्राप्त हों तो मेघ के सौभाग्य और तेज का क्या कहना? मेघ है ही क्या, केवल एक नामरूपात्मक विकार है। वह यदि परमशिव तत्त्व की झलक का दर्शन करा देने में प्रतीक मात्र बन सके, तो भी उसका जन्म सफल हो गया, मानों उसने समस्त लोकों के कल्याण का उपार्जन कर लिया।

कालिदास की कला में इष्ट वस्तु के सौंदर्य की पराकाष्ठा दिखाने की एक अद्भुत युक्ति है। रघुवंश के तेरहवें सर्ग में कवि गंगा और यमुना के मिले हुए प्रवाह-संगम की छटा का वर्णन करने लगा। जब एक, दो, तीन, चार आदि उपमाओं का अंत ही होता न दिखाई पड़ा, तब कवि ने उस शोभा की शिव के शरीर से

३२—प्रकृति सुभगः आत्मा। मेघ० १।४०

३३—प्रावृषा संभृतश्रीः। मेघ० २।५२

उपमा दे डाली; मानो सौंदर्य को सांत की सीमा से निकालकर अनंत के हाथों में सौंप दिया—

> क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
> पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः॥ (रघु० १३।५७)

कृष्ण सर्पों से विभूषित और भस्मांगराग से विलेपित[३४] जो ईश्वर का शरीर है, उसके समान सुंदर गंगा और यमुना के संगम को, हे अवदात सीते, तुम देखो। उस शरीर से भी प्रशस्यतर किसी उपमान की कल्पना का विचार यदि भारतीय कवि अपने मन में लाए, तो मानो वह इस देश की कला के सनातन आदर्शों का तिरस्कार करता है। मदन का जो निग्रह कर चुके हैं, ऐसे अरूपहार्य शिव की शोभा निःसीम है। उससे परे शोभा कहाँ? अनंत से परे अनंतता कैसे संभव है? सौंदर्य का तो शिव के साथ तादात्म्य ही है। त्रिभुवनगुरु चंडीश्वर की कंठच्छवि का प्रतीक मात्र दिया जा सकता है, समग्रतया उसका वर्णन कौन करेगा? बस, मेघ की शोभा भी ऐसी ही उपमा पाकर अनंत हो गई है। उस सौंदर्य का प्रयोजन भोग नहीं, ईश्वर-समर्पण है। इसी स्थिति में पहुँच कर हम कहते हैं—'स्त्री, तेरा नाम ही पवित्रता और सौंदर्य है'। कवि चाहता है कि मेघ अपने सायाह्न तेज को शिव की नृत्य-सामग्री में चढ़ा दे, अपनी इस क्षणभंगुर छवि को वह नटराज के अविनाशी नृत्य की शोभा बढ़ाने में अर्पित कर दे।[३५] मेघदूत में आदि से अंत तक यह स्मरण रखने की बात है कि मेघ को अलका के उस लोक में जाना है जहाँ धनपति के सखा शिवजी साक्षात् निवास करते हैं, जिन्होंने काम को भस्मावशेष कर दिया था। इसलिये मेघ उस लोक में अपना चाप चढ़ाने से डरता है।

मेघ के साथ इंद्रधनुष का साहचर्य है। सातप मेघ के अग्रभाग में रंग-बिरंगा धनुष चमकता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि जब आकाश की बाष्प जल-बिंदु का रूप ग्रहण कर लेती है और ऐसा मेघ सूर्य की किरणों के रास्ते में पड़ जाता है,

---

३४—शिव, काम, कुमार, वृष, मयूर, भस्म, विष, सर्प आदि की व्याख्या 'शिव-स्वरूप' नामक लेख में हमने की है ('कल्याण' शिवांक में प्रकाशित)।

३५—पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः।
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः॥
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां।
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या॥ मेघ० १।३६

तब प्रकाश की रश्मियों को विभिन्न घनत्व की सतहों में से निकलना पड़ता है, जिसके कारण किरणें बिखर जाती हैं और सूर्य के सातों रंग अलग-अलग दिखाई पड़ने लगते हैं। कवि को इस प्रकार सप्त-पाताल से सत्य की कौड़ी निकालने की आकांक्षा नहीं। उसके लिये इंद्रधनुष में अद्भुत जादू है। विद्यमान पदार्थों में जब उस शोभा की उपमा न मिली तब उसने 'रत्नच्छाया व्यतिकर' की कल्पना की। परंतु इस नई सूक्ष्म से भी उसे संतोष नहीं हुआ। तब द्वापर युग के एक गोप के शृंगार का ध्यान आया और 'भर्तुः कंठच्छविरिति' के समान अनंत सौंदर्य की व्यंजना के लिये उसने लिखा—

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः।

जिस समय विष्णु क्षीरसागर में शेष-शय्या पर योगमाया के समाश्रय से चातुर्मास्य मनाते हैं, उसी समय मानो मेघ बाहरी संसार को उनके अभिराम रूप का पान कराते हैं।

मेघ को कालिदास ने इच्छानुसार रूप रखनेवाला (कामरूपं) कहा है। वैज्ञानिक भी उसकी सर्वत्रविहारक्षमता को स्वीकार करता है। आकाश में कभी वह तिरछा शोभित होता है, कभी लंबा पड़ जाता है और कभी पिछले भाग से लटकता हुआ, जल पीने के लिये झुके हुए हाथी के समान जान पड़ता है। इस तिरश्चीन और दीर्घप्रसारित रूप में उसे पृथिवी की ओर उतरने में आसानी होती है। कभी तोयोत्सर्ग के कारण वह हलका होकर द्रुतगति से आकाश में रपटता चलता है।[38] कभी अंतर्घनत्व के कारण मंथर गति में मंद-मंद विचरता है। मेघदूत के मंदाक्रांता छंद और मेघ को मंद गति में प्राकृत संबंध है। यक्ष हृदय से चाहता है कि देश और काल दोनों का अत्यंत अभाव हो जाय, अर्थात् उसका दूत क्षणमात्र में ही अलकापुरी में पहुँच जाय। किंतु देशकाल से परिच्छिन्न मर्त्यों को इन दोनों की नियति का अनुशासन मानना ही पड़ता है। मेघ को आकाशमार्ग से जाते हुए न जाने कितने पर्वतों का व्यवधान पड़ेगा।

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः।
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते॥ (मेघ० १।२२)

३८—तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः। मेघ० १।१९

अर्थात् कितने भी शीघ्र चलनेवाले तुम हो, मार्ग में जितने पर्वत तुम्हारा मार्ग रोकने को खड़े हैं उनके पास बिना समय बिताए आगे बढ़ना संभव न होगा। किंतु एक उपदेश हृदय में रख लेना—

मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थ कृत्याः। (१।१८)

भौतिक व्यवधान चाहे जो हों, अपने मन में तुम मंदोत्साह कभी मत होना।

यह देखी हुई बात है कि हल्के मेघों को हवा उड़ाकर तितर-बितर कर देती है। जिन मेघों में गंभीर जलराशि भरी होती है वे ही हवा के सामने डटकर बरसते हैं। थोथे और हल्के आदमी को गौरव नहीं मिलता। घने बरसनेवाले मेघों से ही, जिस संदेश की व्यंजना यक्ष चाहता है वह संभव है।

अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां।
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय॥ (१।२०)

अर्थात् हे घन, तुम जल से भरे होगे तो आँधी तुम्हारा क्या बिगाड़ सकेगी? बलवान् का लोहा सब मानते हैं। हलकों के लिये तो काल के अप्रतिवार्य वेग से बहनेवाले प्रवाह में बह जाने के सिवा और गति नहीं है। 'अन्तःसारं' की व्यंग्य ध्वनि बड़ी सुंदर है। मेघ की संज्ञा वृष कही जा चुकी है। वृष नाम रेत[३७] या वीर्य का है। जो ब्रह्मचारी है, अर्थात् वृषसंपन्न होने से अन्तःसारवान् है, वही प्राणायामरूप अनिल के धक्के को सह सकता है। वृष से रिक्त जनों को विषय-वात सदा घुमाया करता है, उनमें कुंभक कृतकार्य नहीं होता। एक बात और भी जानने योग्य है। इंद्र की संज्ञा ओकःसारी है[३८] अर्थात् वह जिसके ओक अर्थात् घर में सार भरा है।[३९] अलका का नाम वस्वोकसारा[४०] पुरी है, अर्थात् वह जिसके भवनों में वसुरूप सार है। मेघ इंद्र का प्रधान पुरुष है, उसे अंतःसारी

३७—रेतो वै वृष्ण्यम् (शतपथ ७।३।१।४६)। आपो मे रेतसि श्रितः (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।८।५), अर्थात् शरीर में जल की स्थिति रेत रूप से है।

३८—ओकःसारी वा इंद्रः। ऐतरेय ब्राह्मण ६।१७।३७

३९—गृहा वा ओकः (ऐ० ब्रा० ८।२६)।

४०—रघुवंश १६।१०; वसतिं वसुसम्पदां। कुमार संभव ६।३७; वसु ओकःसारी। मेघदूत में कहा है कि यक्षों के भवनों में अक्षय निधियाँ हैं (अक्षय्यान्तर्भवननिधयः)।

होकर ही अलका में पदार्पण करना चाहिए। इंद्र का ही नाम वसु है।[४१] इंद्र शक्ति का जहाँ निवास है वहीं वस्वोकसारा पुरी है। मेघ विराट् प्रकृति के लिये वृषशक्ति का कोष इंद्र है, अतः उसके लिये अंतःसार विशेषण साभिप्राय ही है।

वृष्टि की आवश्यक परिस्थिति के लिये अनुकूल पवन भी आवश्यक है।[४२] प्रतिकूल वायु जल भरकर चले हुए मेघों की धज्जियाँ उड़ा देती है। मेघ कैसे भी अभ्रत्वविशिष्ट हों, किंतु बिना अनुकूल पवन की प्रेरणा के वे वृष्टि नहीं कर सकते। अतएव यक्ष के मेघ को मंद मंद पवन प्रेरित कर रहा है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां। (१।९)

वृष्टि के लिये दूसरी आवश्यकता हरियाली है। वनों और जंगलों में वाष्प फिर जल्दी ही जल रूप में आ जाती है। कवि ने इस ओर भी संकेत किया है—

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं,
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।

अर्थात् आम्र-काननों के सघन कुंज में जब तुम ठहरोगे तब वाष्परूप में संचित तुम्हारा जल वहाँ बरस जायगा। इससे तुम हलके और द्रुतगामी हो जाओगे। रेवा के जंबू कुंजों में भी तुम वांतवृष्टि हो जाओगे।

वृष्टि का तीसरा रहस्य यह है कि जब मेघ को ऊँचाई पर चढ़ना पड़ता है तब उसका तापमान घट जाता है, फलतः जल बरसता है। माल-क्षेत्र के वर्णन में ध्वनि द्वारा इसी तत्त्व की ओर संकेत है –

सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण। (१।१६)

यहाँ आरोहण के अनंतर वृष्टि, और फिर फलस्वरूप लघुगति की ओर ध्यान दिला कर प्रच्छन्न रीति से उपयुक्त प्रकार के अभिवर्षण[४३] का ही वर्णन किया गया है।

४१—स इन्द्रो वै देवानां वसुर्वीरो ह्येषाम् (शतपथ १।६।७।२)। अर्थात् इंद्र देवों के वसु हैं।

४२—वृष्टि अनुकूल वायु के अधीन है—यां दिशं वायुरेति तां दिशं वृष्टिरन्वेति (श० ८।२।३।५)

४३—सद्यस्तत्कालमेव सीरैः हलैः उत्कषणेन कर्षणेन सुरभि घ्राणतर्पणं यथा तथा आरुह्य। तत्र अभिवृष्य इत्यर्थः। (मल्लिनाथ)

वृष्टि के बाद भूमि में से सोंधी सुगंध निकलने लगती है—

दग्धारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः। (१।२१)

दावानल से जले हुए वनों में जब मेघ अपने जल से पृथिवी की तपन बुझाता है तब भूमि में से सुरभि गंध का प्रादुर्भाव होता है। दावाग्नि से न जाने कितने सुगंधित काष्ठ और हविष्य वनस्पतियाँ भस्म होकर पृथिवी में मिल जाती है। ऐसे स्थान पर वृष्टि करके मेघ भी उच्छ्वासित गंध से तृप्ति का अनुभव करेगा। दावानल को शांत करने का पुरुषार्थ अकेले मेघ में ही है—

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना,

वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।

वास्तव में मेघ समस्त संतप्त सृष्टि को शांति देनेवाला है (संतप्तानां त्वमसि शरणं, १।७)।

कालिदास मेघ की यात्रा में सर्वत्र पानी के ही बरसने का वर्णन करते गए हैं, पर पहाड़ में पहुँचकर अवस्था दूसरी हो जाती है। जहाँ थोड़ी वर्षा हुई, सर्दी बढ़ी और आकाशस्थ जल हिम के आकार में बदल जाता है। इस कारण कर-कर ओले पड़ने लगते हैं। इसलिये कनखल के बाद ज्यों ही फिर वृष्टि का अवसर आया, जल ओलों के रूप में बदल गया—

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन्

मुक्ताध्वानः सपदि शरभा लंघयेयुर्भवन्तम्।

तान्कुर्वीयास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्

के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः॥ (१।५४)

अर्थात् यदि शरभ मृग ऊपर कूदकर तुम्हें लाँघने का प्रयत्न करें तो उन्हें ओलो की मार से दल देना। इस श्लोक का आध्यात्मिक अर्थ बड़ा मनोहर है। मेघदूत में जिस वृषशक्ति को मीमांसा है उसकी दुर्धर्षता का इसमें प्रतिपादन है। काम को योग-संयम द्वारा वश में करके साधना में अग्रसर होने का जो मार्ग है उसका निरादर करके, काम को बिना जीते, जो लोग दूसरे मार्गों का अवलंबन करते हैं और सपाटे के साथ सिद्धि पर पहुँच जाना चाहते हैं, वे अंत में वृषशक्ति के अधो-मुख पतन द्वारा अवकीर्णी अर्थात् खंडित ब्रह्मचर्यवाले हो जाते हैं। उनके सारे प्रयत्न निष्फल हैं। श्लोक का 'अवकीर्ण' पद दीपक की तरह सारे अर्थ का प्रकाश करता है। जो ब्रह्मचारी अपने व्रत से पतित हो जाते हैं वे अवकीर्णी कहलाते हैं।

किसी भी प्रकार जो सप्तम धातु ओज का स्कंदन करे वह अवकीर्णी है।[४४] मनुष्य को वाजसंपन्न (वाजी) बनने के लिये अर्थात् अपनी वाज (वृष) शक्ति को भीतर ही भर लेने के लिये एकरेत अर्थात् केवल ऊर्ध्वरेत ही होना चाहिए। यदि वह अपने समस्त पांसुओं[४५] या रेणु को स्वात्मा में ही नहीं पी लेता, तो वह पांसुल या द्विरेता हो जाता है (शतपथ ब्राह्मण ४।५।१।१९)।

मेघ के आगम से जिस प्रकार वनस्पति और ओषधियाँ ऊर्ज के साथ बढ़ती और वीर्यवती होती हैं, वैसे ही पशु भी आनंदोद्रेक को प्राप्त होते हैं। चेतना की दृष्टि से वनस्पति, पशु, मनुष्य सब एक ही विश्वव्यापी महाप्राण के पर-अवर भेद हैं। विराट् मेघ का प्रभाव सर्वत्र पड़ता है। चर-अचर जैसी काल्पनिक सीमाओं को पार करके एक ही चैतन्य के दर्शन कर लेने पर मेघ का संदेश सब के लिये चरितार्थ हो जाता है।

४४—अवकीर्णी भवेद्गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम् (याज्ञवल्क्य)। ब्रह्मचारी योषाभिगमन करने से अवकीर्णी हो जाता है।
ब्रह्मचारी उपकुर्वाणको नैष्ठिकश्चेति योषितं गत्वा अवकीर्णं, तत्तु यस्यास्ति सोऽवकीर्णी (विज्ञानेश्वर)।
यो सम्पर्काद्विप्लुतब्रह्मचर्यः अवकीर्णी (मनु, कुल्लुक)।

४५—पांसु = रेत = रेणु = वीर्य = वाज = वृष।

रसविवेक

[श्री मुकुंदशर्मा लिखते]

संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के उपायों की शिक्षा देनेवाले षडंग वेद और उनके उपबृंहणरूप पुराण, उपपुराण, स्मृति, इतिहास आदि सहस्रों प्रकार के शास्त्र उपलब्ध हैं, पर बहुत अधिक समय तक कठिन श्रम से उपसेवन करने पर ही इनसे उक्त पुरुषार्थों की प्राप्ति हो सकती है। परंतु वेद, पुराण आदि के सारूप काव्य द्वारा 'गुडजिह्विकान्याय' से (मीठो वस्तु खिलाने के पश्चात् कड़वी दवा देने की तरह) बड़ी सुगमता से चतुर्वर्ग की सिद्धि होती है। साहित्यदर्पण में लिखा है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥

अर्थात् काव्य ही के द्वारा साधारण बुद्धिवालों को भी सुगमता से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस कारण जिस विषय का वर्णन करना होता है उसके वास्तविक रूप की अपेक्षा न करते हुए भी कवि अपनी प्रतिभा के बल से सरस वर्णन द्वारा जिज्ञासुओं के चित्त को उल्लसित करता हुआ उन्हें उचित कार्य में प्रवृत्त करता है (कवि की वाणी लोगों को चाहे जिस किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं करती) ।

काव्य में वर्णनीय वस्तु का रूप जैसा भी हो, रसवत्ता सदा वक्ता के अधीन होती है। आसक्त व्यक्ति जिसकी प्रशंसा करता है, उसी की विरक्त निंदा करता है और इन दोनों से भिन्न व्यक्ति उससे तटस्थ रहता है।

यथा तथा वास्तु वस्तुनोरूपं वक्तृप्रकृतिविशेषायत्ता तु रसवत्ता तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यमस्तु तत्रोदास्ते । (काव्यमीमांसा)

विद्वज्जन उक्तिवैचित्र्य द्वारा जिस विषय का वर्णन करते हैं उसकी वास्तविकता नियत नहीं रहती—

> वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये।
> स्तुवन्ति बध्नात्यमृतांशुमिन्दुं निन्दँस्तु दोषाकरमाह धूर्तः॥

अर्थात् काव्य में वर्ण्य विषय का स्वरूप कवि के वर्णन के अधीन रहता है। वह चाहे तो किसी वस्तु को गुणयुक्त कह सकता है और उसी को गुणहीन भी। चंद्रमा की स्तुति के प्रसंग में उसके लिये 'अमृतांशु' शब्द का प्रयोग मिलता है और निंदा करते समय वही चंद्रमा 'दोषाकर' के रूप में सामने आता है।

जो कवि के पद को शीघ्र प्राप्त करना चाहें उन्हें सभी श्रुतियों और शास्त्रों का उसी प्रकार आसेवन करना चाहिए जिस प्रकार रोग दूर करने की इच्छा करनेवाले औषध का सेवन करते हैं। काव्यमीमांसा में कहा गया है—

> श्रुतीनां साङ्गशाखानामितिहासपुराणयोः।
> अर्थग्रन्थ कथाभ्यासः कवित्वस्यैकमौषधम्॥

परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रुति आदि का वर्णन करने की शक्ति से संपन्न व्यक्ति भी यदि शुष्क वर्णन करता है तो वह वस्तुतः कवि नहीं है, उतना कार्य तो इतिहास आदि से भी हो जाता है। साहित्यदर्पण के शब्दों में—

> न हि कवेरितिवृत्तमात्रवर्णनेन आत्मपदलाभः इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः।

अर्थात् केवल इतिवृत्त का वर्णन करने से किसी कवि को रचना *सरस* नहीं कही जा सकती, इतिवृत्त मात्र का वर्णन तो इतिहास आदि में ही प्रस्तुत रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि *रस* ही काव्य का जीवन तत्त्व है।

काव्य में रस की ही परम शोभा होती है इसलिये भरत ने नाट्यशास्त्र में रस की ही प्रधानता बतलाई है। आदिकवि वाल्मीकि की वाणी *रसमयी* होकर ही आविर्भूत हुई थी—

> समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
> सोऽनुव्याहरणाद्भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

अर्थात् महर्षि ने समान अक्षरवाले चार पदों द्वारा जिसका गान किया, वही शोक बाद में श्लोकत्व को प्राप्त हुआ। आनंदवर्धनाचार्य ने भी ध्वन्यालोक में इसी की पुष्टि की है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

यहाँ यह शंका उठती है कि शोक तो चित्त की एक वृत्ति है, अतः यह शब्दार्थ रूपी श्लोक में परिणत नहीं हो सकती । बात ठीक है । सांख्यवादियों के मतानुसार जिस प्रकार मिट्टी आदि पदार्थ अपने मूल रूप को न छोड़ते हुए घट आदि के रूप में परिणत हो जाते हैं, उस प्रकार यहाँ शोक का श्लोक में परिणत होना अभिप्रेत नहीं है । यहाँ परिणाम का अर्थ कुछ और ही है । परिणाम यहाँ कार्यरूप है, जैसे वृक्ष का फल के रूप में परिणत हो जाना । शोक के आस्वाद के अनंतर आदिकवि के हृदय में एकाएक श्लोक का आविर्भाव हुआ । अर्थात् 'यो यदनन्तरः स हि तदुदितः' (जो जिसके उपरांत होता है वह उससे उत्पन्न होता है) इस न्याय से शोक श्लोक के रूप में परिणत हुआ ।

भरत आदि आचार्यों द्वारा उपस्थापित लक्षणों और वाल्मीकि आदि के काव्यों से ज्ञात होता है कि वाक्य में रस से उत्पन्न होनेवाला या रसरूप चमत्कार ही उत्कृष्ट वस्तु है । भामह ने भी रस की विशेषता स्वीकार की है, पर रसवत् अलंकार के रूप में । वे रस की प्रधानता नहीं मानते, क्योंकि वे अलंकार संप्रदाय के अनुयायी हैं । उनके मतानुसार रस अलंकार है । दंडी का भी रस के संबंध में यही मत है । रीतिवादी वामनाचार्य औचित्यरूप कांति नामक गुण में ही रस का अंतर्भाव मानते हैं । रस को अलंकार माननेवाले भामह आदि की अपेक्षा वामन के के अनुसार रस की अंतरंगता अधिक सिद्ध होती है; क्योंकि अलंकार शब्द और अर्थ में रहने के कारण बहिरंग पदार्थ हैं, और गुण रस में रहने के कारण अंतरंग ।

रस की निष्पत्ति के विषय में चार प्रसिद्ध मत हैं । लोल्लट उत्पत्तिवादी, शंकुक अनुमितिवादी, भट्टनायक भुक्तिवादी और अभिनवगुप्त व्यक्तिवादी हैं । सांप्रदायिकों का मत है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अभिनवगुप्त का ही मत अधिक प्रामाणिक है ।

भरत का सूत्र है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' । धनंजय के मतानुसार इस सूत्र का अर्थ यह जान पड़ता है कि दृश्य एवं श्रव्य काव्य में प्रतिपादित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का, सामाजिकों में वासनारूप से रहनेवाले स्थायी भाव से संयोग होने पर, सामाजिकों में ही रस की निष्पत्ति होती है । इसीलिये धनंजय ने कहा है—

वक्ष्यमाणस्वरूपैः विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैः अभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः। तेन रसिकाः सामाजिकाः। काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवत् आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत्।

अर्थात् वाक्य में वर्णित अथवा अभिनय द्वारा प्रकटित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव द्वारा श्रोताओं तथा दर्शकों के हृदय में विशेष परिणाम को प्राप्त होकर अतिशय आनंदरूप आस्वाद को प्राप्त होता हुआ स्थायी भाव (रति आदि) रस है। इसी से रस का आस्वादन करनेवाले सामाजिक *रसिक* कहलाते हैं और उक्त प्रकार की आनंदानुभूति का कारण काव्य *रसवत्* कहा जाता है। यहाँ रसवत प्रयोग 'आयुर्घृतम्' की भाँति है।

अभिनवगुप्त, धनंजय और रसगंगाधर का मत है कि जिनका अभिनय किया जाता है उनको लौकिक रस का आस्वाद होता है, और सामाजिकों को अलौकिक रस का। नायक-नायिका के शृंगार के हेतुरूप विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का वर्णन सुनकर या अभिनय देखकर रसिकों के हृदय में साधारणीकरण नामक व्यापार द्वारा, व्यक्ति की भावना से परे, केवल आनंदरूप जो परम रसपरिपाक प्रतीत होता है वही *अलौकिक* रस कहा जाता है। इससे यही प्रतीत होता है कि रस-दशा में काव्य में प्रतिपादित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी तथा रसिकों के हृदय में रहनेवाले स्थायी भाव गृहीत होते हैं। जिस प्रकार नायक आदि की चित्तवृत्ति में विद्यमान रति आदि स्थायी भावों के उद्दीपन के लिये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार सामाजिकों के चित्त में स्थित स्थायी भावों के उद्दीपन के लिये भी विभाव आदि आवश्यक हैं। दोनों प्रक्रियाओं में भेद इतना ही है कि नायक-नायिका में विद्यमान रति आदि को उद्दीप्त करने के लिये कारणरूप विभाव आदि प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होकर यथार्थ प्रतीत होते हैं, और रसिकों के विभाव आदि का, कल्पना से उपस्थापित होने के कारण साधारणीकरण हो जाता है। इसी से वे असत्य प्रतीत होते हैं। काव्यगत नायक-नायिका अपने चित्त में स्थित रति आदि के उद्दीपन के लिये अपने परिमित ज्ञान से अपने ही उपभोग के लिये विभाव आदि का ग्रहण करते हैं। उनके ज्ञान के परिमित और लौकिक होने के कारण उनसे संबद्ध रस *लौकिक* कहा जाता है। नायक-नायिका में रस उत्पन्न करने-वाली जितनी भी रस-सामग्री होती है वह कल्पना से साधारणीकरण द्वारा

सामाजिकों को प्रत्यक्ष रूप से उपस्थापित प्रतीत होती है। अतः सामाजिक जिस रस का आस्वाद करते हैं वह *अपरिमित* और *अलौकिक* कहा जाता है।

धनंजय ने कहा है कि काव्य में वर्णित नायक के विभाव आदि और सामाजिक के स्थायी भाव रस-निष्पत्ति के कारण हैं। कुछ लोग इसे नहीं मानते। उनका अभिप्राय इस प्रकार है कि प्रत्येक स्थल में अनुभाव और व्यभिचारी भाव काव्य में वर्णित व्यक्ति के नहीं हो सकते।

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति।*

इस पद्य में बीभत्स रस व्यंग है। यहाँ निष्ठीवन, वमन आदि के घृणा आदि अनुभाव प्रेतरंक में नहीं प्रकट होते, अपितु सामाजिकों में उत्पन्न होते हैं। इसका कारण यह है कि सड़े हुए, कृमिसंकुल और उत्कट दुर्गंध से युक्त शव का भक्षण करनेवाले पिशाच को देखकर सामाजिकों में ही जुगुप्सा उत्पन्न होने पर उक्त अनुभावों तथा आवेग आदि व्यभिचारी भावों का आविर्भाव होता है। उक्त प्रकार के शव का भक्षण करनेवाले पिशाचों को तो आनंद की ही अनुभूति होती है। इससे यह अर्थ निकला कि बीभत्स रस में विभाव आदि सामाजिक के ही होते हैं, काव्य में वर्णित व्यक्ति के नहीं।

हास्य का प्रकरण भी ऐसा ही है। अपने को वीर माननेवाला कोई व्यक्ति जब घने अंधकार में रस्सी को साँप समझ बैठता है, तब डर के मारे जोरों से चिल्लाता है और अपना वस्त्र छोड़ कर भाग खड़ा होता है। इस प्रकार का वर्णन

---

* उतिन उतिन चाम फेरि ताहि काढ़त हैं,
जोथि को उठाइ भखैं ऐसे वे अतंक हैं।
सज्यो माँस कंधो जाँघ पीठ औ नितंबनु को
सुलभ चबाइ लेत रुचि सों निसंक हैं॥
रौंथि डारैं नाक्यो नेत्र आँत औ निकारैं दाँत
छितरे सरीर जिन सोनित की पंक हैं।
अस्थिनु पै ऊँचौ नीचौ और तिन बीचहू को
धीरे धीरे कैसे मास खात प्रेत रंक हैं॥
(मालती माधव, सत्यनारायण कविरत्न कृत अनुवाद, ५।१६)

सुनकर सामाजिक हँसते हैं। यहाँ काव्यगत व्यक्ति के लिये भयानक रस के विभाव आदि होते हैं और सामाजिकों के लिये हास्य रस के विभाव आदि। यही सब विचार कर पंडितराज ने लिखा है कि रति, क्रोध, उत्साह, भय, विस्मय और निर्वेद में जिस प्रकार आलंबन और आश्रय का ज्ञान होता है उस प्रकार हास और जुगुप्सा में नहीं होता। हास और जुगुप्सा में आलंबन मात्र की प्रतीति होती है। यदि यह कहें कि रस के आस्वाद के अधिकरण रूप में पद्य का श्रोता लौकिक हास और जुगुप्सा का आश्रय नहीं हो सकता, तो ठीक ही होगा। उसके लिये एक द्रष्टा पुरुष का आक्षेप करना पड़ेगा। आक्षेप न करने पर अपनी कांता के वर्णन से संबंध रखने वाले पद्य को सुनकर श्रोता में रस का उद्बोध नहीं होगा--

> ननु रतिक्रोधोत्साहभयनिर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु यथालम्बनाश्रययोः सम्प्रत्ययः न तथा हासे जुगुप्सायां च तत्रालम्बनस्यैव प्रतीतेः पद्यश्रोतुश्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिक हास जुगुप्साश्रयत्वानुपपत्तेरिति चेत् सत्यं तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात् तदनाक्षेपे तु श्रोतुः स्वीय कान्तावर्णनपद्यादिव रसोद्बोधे बाधकाभावात्।

रस की चर्वणा का आश्रय कौन, किस प्रकार होता है, इसका विचार हो चुकने के बाद अब यह देखना चाहिए कि चर्वणा की प्रक्रिया क्या है। पहले पदों का ज्ञान होता है। यह ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक तो पदार्थ का स्मरण और दूसरे उसका श्रवण। इसके अनंतर व्यवहार आदि की साधनभूत अभिधा से अनेक अर्थों की उपस्थिति होती है, और संयोग से लेकर स्वर तक जितने अर्थनियामक * हैं उनसे तात्पर्य का ज्ञान होता है। इसके पश्चात् अभिधा वृत्ति से प्रतिपादित पदार्थों के संबंध का बोध होता है और जहाँ इस संबंध से अर्थ की उपस्थिति में बाधा होती है वहाँ लक्षणावृत्ति से पदार्थों के संबंध का अनुभव होता है। तब सहृदयों को सहृदयता के उद्रेक और काव्य-वासनारूप प्राक्तन संस्कार आदि की सहायता से व्यंजना वृत्ति द्वारा वस्तु, अलंकार और रति आदि व्यंग्य का अनुभव होता है। व्यंग्यार्थ के बोध में अभिधा या लक्षणा द्वारा प्रतिपादित अर्थ का ज्ञान कारण होता है। यदि उक्त अर्थ सहायक न हो तो सहृदयता, व्यंजना वृत्ति और काव्य-संस्कार के रहते हुए भी व्यंग्यार्थ का ज्ञान पहले नहीं होगा।

---

* संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

इस प्रकार व्यंग्यार्थ संबंधी बोध हो चुकने के बाद जब रजोगुण और तमोगुणका तिरोधान हो जाता है और सत्य का प्रकाश होता है तब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के साधारणीकरण रूप व्यापार से विभाव आदि से मिश्रित रति आदि के आकार को प्राप्त अंतःकरण वृत्ति उदित होती है। इस अवस्था में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव के सामान्य धर्म और राम, सीता आदि नायक-नायिका के विशेष धर्म का ज्ञान उसी प्रकार नहीं रह जाता जिस प्रकार दही में परिणत होने की स्थिति में दूध के धर्म का ज्ञान नहीं होता। आवरण-भंग के बाद वृत्ति में स्वप्रकाश रूप आनंदात्मक चित् का प्रतिबिंब पड़ता है। यह क्रिया उसी प्रकार होती है जिस प्रकार ढालू भूमि पर रोका गया पानी विलासपूर्वक इधर-उधर फैलता है। इसके बाद ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें चित् और चैतन्य का अभेद प्रतीत होता है और उक्त वृत्ति चिन्मयी हो जाती है। यदि ऐसा न हो, तो विभाव आदि के आधार को प्राप्त हुई वृत्ति की स्वप्रकाशता किसी प्रकार उपपन्न भी हो जाय तो भी उसकी आनंदात्मकता सिद्ध नहीं हो सकती। चर्वणा मात्र होने से उक्त वृत्ति को सुखात्मक कहना इस बात को किसी प्रभु के आदेश और शपथ लेकर सिद्ध करने के समान है।

चित् का प्रतिबिंब ही आभास कहा जाता है और इसी से उसका अनुमान होता है। एतावता वह साक्षिभास्य कहा जाता है। इस दृष्टि से कवियों द्वारा किए गए वर्णन पर विचार करने पर रस के विषय में यह निश्चय होता है कि—

क—वह चित् के प्रतिबिंब से भासित होनेवाले विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव से मिश्रित रति आदि स्थायी भाव के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति है।
ख—या, उक्त प्रकार की वृत्ति से उपहित अथवा विशेषित चित् है।
ग—या, चित्त को विशेषित करनेवाली तथा उसकी उपाधिभूत वृत्ति है।
घ—या, उक्त प्रकार की चित्तवृत्ति के रूप को प्राप्त रति आदि स्थायीभाव है।

उक्त वृत्ति कुछ कारणों से उत्पन्न होती है अतः रस को भी उत्पाद्य कहा जा सकता है। उक्त प्रकार की वृत्ति से अभिव्यक्त, उपहित या विशेषित चित् ही वस्तुतः रस है। एतावता अभिव्यक्ति के आधार पर उसे गौण रूप से जन्य भी मान सकते हैं। चित् के अंश के आधार पर उसमें प्रधान रूप से नित्यता, स्वप्रकाशता और आस्वादरूपता का व्यवहार होता है। यद्यपि चिदानंदरूप रस एक है तथापि उसकी उपाधिरूप उक्त वृत्ति के विभिन्न प्रकार के विभाव, अनुभाव, संचारी और

स्थायी भावों से उत्पन्न होने के कारण रस में भी अनेकता आ जाती है। इस प्रकार 'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति' इत्यादि श्रुतियों के विरोध का परिहार भी हो जाता है। 'रसो वै सः' में 'रस' पद से 'चिदात्मक रस' अर्थ लिया जायगा और 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति' में इससे 'वृत्तिरूप रस' का बोध माना जायगा। इसीलिये ग्रंथकारों ने भरत के सूत्र में आए हुए 'निष्पत्ति' पद का अर्थ 'उत्पत्ति' और 'अभिव्यक्ति' दोनों किया है।

इस प्रकार सहृदयों, सामाजिकों और कवियों के लिये रस का आस्वाद ब्रह्मास्वादरूपी नगर में प्रवेश के लिये गोपुर के समान है, क्योंकि उतने ही तक पहुँचने से ब्रह्मास्वादरूपी नगर में प्रवेश नहीं हो सकता। ब्रह्मास्वादरूपी नगर में शुद्ध सच्चिदानंदरूप अद्वितीय आत्मा का ही प्रकाश रहता है। यह भूमिका 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों के उपदेश से 'नेति नेति' का अनुभव होने और समस्त प्रपंचों के नाश के बाद प्राप्त होती है। साहित्य के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से होनेवाला रसास्वाद ब्रह्मानंदसहोदर मात्र है, ब्रह्मास्वादरूप नहीं। अतः कविगण कोमल मतिवाले राजकुमारों आदि को ब्रह्मास्वादरूपी नगर के गोपुर तक ही पहुँचाते हैं; प्रवेश तो औपनिषद विद्या द्वारा ही हो सकता है। यह मार्ग कल्याणकर और सर्वसम्मत है। साहित्यदर्पणकार ने लिखा भी है—

मोक्षप्राप्तिश्च मोक्षजनकशास्त्रेषु व्युत्पत्त्याधायकतया।

अंधकारयुगीन कौशांबी

[श्रीपरमेश्वरीलाल गुप्त]

मौर्य साम्राज्य के पतन और गुप्त साम्राज्य के उदय के बीच का काल भारतवर्ष के इतिहास में अंधकार युग समझा जाता रहा है। इस काल का इतिहास प्रायः लुप्त था। पिछली कुछ शताब्दियों के अनुसंधान के फलस्वरूप इस काल का इतिहास अंधकार से बाहर आया है और उसका कुछ शृंखलाबद्ध इतिहास भी तैयार हो सका है; फिर भी इस युग को अभी तिमिरमुक्त नहीं कह सकते। ऐसे ही तिमिराच्छन्न इतिहास के पृष्ठों में कौशांबी का इतिहास छिपा हुआ था।

कौशांबी की स्थिति महाभारत काल से है। बौद्धकालीन साहित्य में उसकी अत्यधिक चर्चा है। मौर्यों के पहले वह वत्स महाजनपद की राजधानी थी और उसकी गणना देश की छः महानगरियों में होती थी। उन दिनों वह व्यापार और यातायात का केंद्र थी और उसकी यह स्थिति बहुत दिनों तक बनी रही। यमुना-तट पर स्थित होने के कारण तक्षशिला, श्रावस्ती, वाराणसी, राजगृह और वैशाली की तरह वह समृद्ध थी। वहाँ के राजा उदयन के प्रेमपरायण जीवन ने साहित्यस्रष्टाओं को अपनी ओर आकृष्ट किया और लगभग आधे दर्जन काव्य और नाटक उसके विषय में लिखे गए। कलाकारों ने भी उसकी कथा को मृत्फलकों पर बड़ी कुशलता के साथ अंकित किया है।

उदयन के मगध और अवंती के साथ होनेवाले संघर्षों के अतिरिक्त यदि कुछ अधिक ज्ञात है तो इतना ही कि इलाहाबाद दुर्ग में स्थित स्तंभ पहले कौशांबी में था। उसपर अशोक के धर्मलेख और समुद्रगुप्त की प्रशस्ति अंकित है और उन दोनों के बीच लगभग छः शताब्दी का अंतर है।

अभी हाल में प्रयाग विश्वविद्यालय ने वहाँ के ध्वंसावशेषों के कुछ अंशों की खुदाई की है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस खुदाई में प्राप्त सामग्री से गंगा की घाटी का ई० पू० दो सहस्र शताब्दियों का इतिहास प्रकाश में आएगा। काली रेखाओं से युक्त लाल रंग की मिट्टी के कुछ ऐसे बर्तन खुदाई के निम्न स्तर से प्राप्त हुए हैं जो हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के बर्तनों से बहुत सादृश्य रखते हैं। बहुत संभव है कि उनके अध्ययन से गंगाघाटी की, सिंधु-घाटी की सभ्यता के साथ न केवल समकालीनता ज्ञात हो, वरन् यह भी पता चले कि उन दोनों का पारस्परिक संबंध भी था।

इस खुदाई से कौशांबी के इतिहास का कितना अंश सामने आएगा यह अभी कहना कठिन है। किंतु वहाँ से समय समय पर जो सिक्के प्राप्त होते रहे हैं और जिनका एक बहुत बड़ा भाग प्रयाग संग्रहालय में संगृहीत है, उनसे मौर्यों के पतन और गुप्तों के उदय के बीच के ६०० वर्षों का इतिहास विगत कुछ वर्षों में अद्भुत रूप से सामने आया है। सिक्कों द्वारा भारत के अज्ञात इतिहास पर प्रकाश पड़ना सर्वथा नूतन तो नहीं है, क्योंकि सिक्कों के सहारे ही हम पंजाब के उन यवन शासकों से परिचित हो सके थे जो ई० पू० कई सौ वर्षों तक वहाँ शासन करते रहे ; किंतु जिस प्रकार का शृंखलाबद्ध इतिहास कौशांबी के ये सिक्के प्रस्तुत करते हैं वह अन्यत्र प्राप्त नहीं है। प्रस्तुत लेख में सिक्कों के आधार पर शासकों का जो क्रम सुझाया जा रहा है। वह सिक्कों पर अंकित लिपि के सहारे ही है। इस क्रम में काफी उलट-फेर की गुंजाइश नये प्रमाणों के मिलने पर हो सकती है। इसलिये इस वंशक्रम को हम संभावित रूप में ही उपस्थित कर रहे हैं।

घोष वंश

कौशांबी के अब तक जो प्राचीनतम अभिलेखयुक्त सिक्के प्राप्त हुए हैं उनसे हमें वहाँ के दो शासकों, *अश्वघोष* और *बवघोष* के नाम ज्ञात होते हैं। बवघोष के सिक्कों की लिपि से जान पड़ता है कि वह ई० पू० तीसरी शताब्दी के अंतिम भाग में किसी समय प्रचलित किया गया होगा।[1] अश्वघोष उसके बाद हुआ, किंतु यह कहना कठिन है कि वह तत्काल बवघोष के बाद हुआ, क्योंकि उसके सिक्के की लिपि ई० पू० दूसरी शताब्दी के आरंभ की नहीं जान पड़ती।

1—भारतीय मुद्रातत्त्व परिषद् की पत्रिका, भाग ४, पृ० १–४

वह कुछ बाद की है।[२] अश्वघोष के सिक्कों की भाँति के *पर्वत* नामक शासक के सिक्के प्राप्त हुए हैं जो भारतीय संग्रहालय[३] कलकत्ता और बिबलियोथिक नैशनेल (फ्रांस)[४] में हैं। इन सिक्कों से अनुमान होता है कि पर्वत अश्वघोष का तात्कालिक पूर्वाधिकारी अथवा उत्तराधिकारी रहा होगा। बहुत संभव है कि अश्वघोष के साथ उस वंश का, जिसे हम घोष वंश कह सकते हैं, अंत हो गया हो और एक नए वंश का उदय हुआ हो जिसका शासक पर्वत रहा हो। पर्वत के उत्तराधिकारी के रूप में *सुदेव* के सिक्के प्राप्त होते हैं।[५] जिनके संबंध में कनिंघम का मत है कि वे ई० पू० दूसरी शताब्दी के पूर्वार्ध के बाद के नहीं हो सकते। संभवत: यह वंश भी अधिक दिनों तक अधिकारारूढ़ न रहा। उसका स्थान एक नए वंश ने ग्रहण किया, जिसे हम *मित्र* वंश कह सकते हैं।

मित्र वंश

मित्रवंश का प्रथम शासक संभवत: *मित्र* था। इसका अभी तक केवल एक ही सिक्का ज्ञात हो सका है।[६] इसके बाद संभवत: *राघमित्र* हुआ। इसके सिक्कों की बनावट के आधार पर डाक्टर अल्तेकर का मत है कि वह दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरंभ में हुआ होगा। उसका उत्तराधिकारी संभवत: *बृहस्पति मित्र प्रथम* था। सन् १९१२ में मथुरा से सात मील पश्चिम मोरा नामक स्थान से कुछ अभिलेखयुक्त ईंटें मिली थीं। उस अभिलेख में उक्त राजा की पुत्री द्वारा, जो मथुरा के शासक से विवाही थी, मंदिर बनवाने की बात लिखी है।[७] विद्वानों ने इस बृहस्पति मित्र को कौशांबी का शासक अनुमानित किया। उसी शासक के ये सिक्के कौशांबी में काफी पाए जाते हैं।

एलन ने *अग्निमित्र*, *ज्येष्ठमित्र* और *बृहस्पतिमित्र द्वितीय* के सिक्कों का समय द्वितीय शताब्दी का अंत और प्रथम शताब्दी ई० पू० अनुमानित किया है।[८]

२—कनिंघम कुत्त कॉयन्स ऑव एंशंट इंडिया, फलक ५, १४

३—भारतीय संग्रहालय की मुद्रा सूची, भाग १, फलक २०, ४

४—ब्रिटिश संग्रहालय की प्राचीन भारतीय सिक्कों की सूची, भूमिका पृ० ९६

५—कनिंघम, फलक ५, १०

६—भा० मु० प० प०, भाग ८, पृ० ७—८

७—वोगल, जरनल ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी (१९१२), पृ० १२०

८—ब्रि० सं० प्रा० भा० सि० सू०, पृ० ५९

बृहस्पतिमित्र द्वितीय का नाम कौशांबी के निकट पमोसा के एक अभिलेख में अंकित है। यह लेख *उदाक* नामक एक किसी शासक के दसवें बरस का है और उसमें उसके चचा द्वारा बनवाई हुई गुफा की चर्चा है। डाक्टर जायसवाल ने इस लेख के उदाक की पहचान शुंगवंश के पांचवें शासक से की है। पुराणों के आधार पर यह समय १२० ई० पू० होगा। अत: एलन के मतानुसार बृहस्पतिमित्र द्वितीय का समय १२५ से १०० वर्ष ई० पू० होना चाहिए।[9]

ई० पूर्व की प्रथम शताब्दी में *सुरमित्र*[10], *वरुणमित्र*[11] और *पीठमित्र*[12] नामक तीन शासकों को रखा जा सकता है। ये शासक किस क्रम से अधिकारारूढ़ हुए, आज बता सकना कठिन है। *पीठमित्र* के सिक्के बहुत कुछ अग्निमित्र और बृहस्पतिमित्र द्वितीय के सिक्कों से मिलते जुलते हैं, इसलिये हो सकता है कि उपर्युक्त तीनों शासकों में वह पहले हुआ हो। डाक्टर अमरनाथ झा को कौशांबी से एक अधूरा अभिलेख मिला था जो आजकल प्रयाग संग्रहालय में है और जिसमें पीठमित्र का नाम पढ़ा जाता है। डाक्टर अल्तेकर उस अभिलेख के पीठमित्र को सिक्के के पीठमित्र से भिन्न मानते हैं, यद्यपि लिपि के आधार पर भिन्नता जैसी कोई बात ज्ञात नहीं होती। प्रयाग संग्रहालय में एक दूसरा अभिलेख है जिसपर *राज्ञो गोतिपुतस वरुणमितस पुतस राज्ञो कोहडी (?) पुतस पुतेन* लिखा है।[13] यह लेख प्रथम शताब्दी ई० पू० का है। इस कारण इसकी पहचान सिक्के के *वरुणमित्र* से सरलता से की जा सकती है। इस *वरुणमित्र गोतिपुत्र* के एक पुत्र था जिसकी माता कोहडी थी, ऐसा उक्त शिलालेख से ज्ञात होता है। किंतु उसके सिक्के अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं, इसलिये यह कहना कठिन है कि वह अपने पिता के बाद शासनाधिकारी हुआ या नहीं। यदि उसने शासन किया होगा तो अपने पिता के बाद ही, अत: किसी अन्य शासक को रखने के पूर्व उसके लिये कुछ समय देना होगा। *सुरमित्र* के विषय में कुछ कहना कठिन है। डाक्टर अल्तेकर बृहस्पतिमित्र द्वितीय के बाद ही किसी समय उसके होने की बात सोचते हैं। यदि ऐसा हो तो उसका स्थान पीठमित्र अथवा वरुणमित्र के पहले होगा। मैं उसको वरुणमित्र के पहले रखता हूँ।

९—वही, पृ० ५८

१०—आ० सु० ए० ए० भाग ४, पृ० ५

११—वही, पृ० ६

१२—वही, पृ० १३३-३४

१३—इंडियन कल्चर, भाग १, पृ० ६९२

ई० पू० प्रथम शताब्दी के अंत और प्रथम शताब्दी के आरंभ में *सर्पमित्र* का स्थान होगा[14] उसके बाद शताब्दी के प्रथम पचीस वर्षों में किसी समय *प्रजापतिमित्र* हुआ होगा[15] और उसके बाद *राजमित्र*[16] शासनारूढ़ हुआ होगा। इस शताब्दी का अंतिम शासक *सतमित्र* या *सत्यमित्र* रहा होगा।[17] प्रयाग संग्रहालय में जो सिक्का इस शासक का है, उसमें पहले अक्षर का अभाव है इसलिये ठीक नाम बताना कठिन है। इस वंश का अंतिम शासक, जो अभी तक ज्ञात हो सकता है, *रजनीमित्र* था।[18] उसका समय दूसरी शताब्दी में किसी समय हो सकता है।

कौशांबी से मिले हुए सिक्कों में *नाविक*[19] और *नव अंत* वाले नाम के कुछ सिक्के[20] पाए जाते हैं। इनका समय भी प्रथम और द्वितीय शताब्दी अंकित किया जाता है। इनके संबंध में कुछ अधिक कहना कठिन है।

मघ वंश

मित्रवंश के अंत के पश्चात् कौशांबी में *मघ* नामक एक नए वंश का उत्थान हुआ। पुराणों में मित्र वंश की कोई चर्चा नहीं है, पर मघ वंश में नौ शासक होने की बात लिखी है। इस वंश के सर्वप्रथम शासक *भीमसेन* का ज्ञान हमें उसके शिलालेखों से होता है। किंतु उसका कोई भी अभिलेख इलाहाबाद से चालीस मील दक्षिण स्थित गिंजा नामक स्थान के उत्तर प्राप्त नहीं हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि उसका शासन बघेलखंड तक ही सीमित था और कौशांबी पर उसका कोई अधिकार न था। उनकी ज्ञात तिथि शक संवत् ५१ और ५२ है।[21] इस प्रकार

१४—आ० मु० प्र० प० भाग ४, पृ० ११५

१५—वही, पृ० ७

१६—वही, पृ० १

१७—वही, पृ० १३४-१५

१८—वही, पृ० १०

१९—आ० मु० प० प०, भाग ७, पृ० ११९

२०—मा० स० मु० सू०, भाग १, फ० २३, १५-१९; ब्रि० सं० प्रा० भा० मु० सू० फ० ११, ४

२१—इस वंश के शिलालेखों की तिथि के संबंध में विद्वानों में घोर मतभेद है। कुछ उसे चेदि संवत् और कुछ गुप्त संवत् मानते हैं; पर मार्शल, कोनो और डाक्टर मोती-

उसका समय १२० ई० के लगभग होगा। ऊपर हम देख चुके हैं कि द्वितीय शताब्दी के आरंभ में कौशांबी में *रजनीमित्र* का शासन रहा होगा। अतः यह वस्तुस्थिति के सर्वथा अनुकूल है। उसके बेटे *महाराज कौत्सीपुत्र पीठश्री का* पता उसके छः अभिलेखों से लगता है जो बघेलखंड में पाए गए हैं। उनकी तिथि शक संवत् ८६, ८७ और ८८ है। अतः उसका शासनकाल १४० ई० के लगभग हुआ। एक बहुत ही विकृत सिक्के की चर्चा पुरातत्त्व विभाग के सन् १९११–१२ के वार्षिक विवरण में है। वह सिक्का प्रयाग जिले के भीटा नामक स्थान से मिला था और उसपर *प्रस्थ* पढ़ा गया था। वह सिक्का इस शासक का हो सकता है, पर इसकी कोई भी वस्तु कौशांबी के प्रदेश में नहीं मिली है। अतः संभवतः उसका भी कौशांबी पर अधिकार नहीं था।

उसके बेटे *भद्रमघ* अथवा *भट्टदेव* ने संभवतः अपने राज्य का विस्तार उत्तर की ओर किया। हमें उसके शक संवत् ८१ के अभिलेख कौशांबी में प्राप्त होते हैं। वहाँ से मिलनेवाले उसके अन्य अभिलेखों की तिथि शक संवत् ८६ और ८७ है। शक संवत् ९० का उसका एक अभिलेख बांधवगढ़ में मिला है जिसपर उसका नाम *भद्रदेव* और *मददेव* अंकित है। डाक्टर अल्तेकर ने हमारा ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया है कि पिता पीठश्री को बांधवगढ़ में १६६ ई० तक शासन करते देखते हैं, साथ ही पुत्र भद्रमघ को १२९ ई० से ही कौशांबी में पाते हैं; अतः बहुत संभव है कि युवराज भद्रमघ ने अपना शासन बघेलखंड के बाहर अपने पराक्रम अथवा कूटनीतिज्ञता से विस्तृत कर लिया हो और उसके पिता ने उसे उस प्रदेश पर स्वतंत्र रूप से शासन करने दिया हो।[२२] किंतु मेरी दृष्टि में एक दूसरी संभावना ज्ञात पड़ती है। वह यह कि उसने कौशांबी का राज्य किसी वैवाहिक संबंध के आधार पर मित्रवंश के निर्वंश होने पर मित्रों से प्राप्त किया होगा। कदाचित् वह मित्रवंश का दत्तक रहा हो और अपने पिता से स्वतंत्र कौशांबी का शासन करता रहा हो और पिता की मृत्यु के बाद उसके प्रदेश का भी शासनाधिकारी हो गया हो।

चंद उसे शक संवत् समझते हैं और अपनी धारणा के पक्ष में पुष्ट प्रमाण उपस्थित करते हैं। डाक्टर अल्तेकर ने भी इसपर गंभीरता से विचार किया है और हम उन्हीं का मत ठीक समझते हैं।

२२—न्यू हिस्ट्री ऑव दि इंडियन पीपुल, भाग ६, पृ० ४३

इसके और इसके उत्तराधिकारी तीन शासकों *शिवमघ*, *वैश्रवण* और *भीमवर्मन* के सिक्के फतहपुर जिले के सतौंव हँसवा नामक स्थान से मिले दफीने से ज्ञात हुए हैं।[२३] *शिवमघ* उसका उत्तराधिकारी था। भीटा की खुदाई में *महाराज गौतमीपुत्रस्य शिवमघस्य* अंकित मुहर मिली थी। यह मुहर उस मुहर से मिलती-जुलती है जिस पर राज्ञ *वसतु वसिष्ठीपुत्रस्य श्रीभीमसेनस्य* अंकित है। दोनों मुहरों पर एक से चिह्न इस बात के द्योतक हैं कि *शिवमघ* और *भीमसेन* का संबंध बहुत निकट का था। *भीमसेन* की पहचान ऊपर उसी नाम के एक शासक से की जा चुकी है और उसके तत्कालीन उत्तराधिकारी *पौठश्री* और *भद्रमघ* थे, इसलिये *शिवमघ* का स्थान उनके बाद हो सकता है। किंतु उसका स्थान और भी अधिक पीछे होना संभव है। शक संवत् १०७ का एक अभिलेख है जिसमें वह *महासेनापति भद्रबल* का पुत्र बताया गया है। *भद्रबल* की पहचान लोग *भद्रमघ* से करते हैं। यदि उसे ठीक माना जाय तो *वैश्रवण भद्रमघ* का उत्तराधिकारी रहा होगा और उसके बाद *शिवमघ* हुआ होगा।

वैश्रवण और *शिवमघ* के बाद, उन दोनों के उत्तराधिकार-क्रम के विषय में बिना किसी भी प्रकार की धारणा बनाए, कहा जा सकता है कि *भीमवर्मन* शासक हुआ। उसके दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं। एक पर तिथि शक सं० १३० और दूसरे पर १३९ है।

पुराणों में मघ वंश के नौ शासकों के होने की चर्चा है। किंतु प्रयाग संग्रहालय में *शातमघ*[२४], *विजयमघ*[२५], *पुरमघ*[२६] और *युगमघ*[२७] चार और शासकों के सिक्के हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर इस वंश में दस शासक हो जाते हैं। जान यह पड़ता है कि पुराणकारों ने या तो आरंभ के शासक को नहीं गिना है, अथवा पुराणों की रचना उस समय हुई जब यह वंश अभी शासन कर ही रहा था। *भीमवर्मन* के बाद इन चार शासकों का शासन-क्रम किस प्रकार रहा होगा, यह कहना कठिन है। पर धारणा यह होती है कि पहले *शातमघ* और *विजयमघ* हुए होंगे, उनके बाद *पुरमघ* और *युगमघ* हुए होंगे।

२३—आ० मु० प० प० भाग ३ पृ० ९५–१०८

२४—वही भाग ५, पृ० १०–१०

२५—वही भाग ४, पृ० ११–१२

२६—वही भाग ८, पृ० ८

२७—वही भाग ८, पृ० ९

मघ वंश का अंत *युगमघ* के साथ हो जाता है या नहीं, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। प्रयाग संग्रहालय में यहाँ के शासक *पुष्पश्री या पुष्पश्री* का सिक्का प्राप्त है जो चतुर्थ शताब्दी के आरंभ का अनुमान किया जाता है।[२८] अभी हाल में लखनऊ संग्रहालय के संग्रह में कौशांबी का एक सिक्का आया है जिसपर रुद्र लिखा हुआ है।[२९] संभवतः उसे ही *समुद्रगुप्त* ने विजित करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया। दक्षिण विजय के पश्चात् जब *समुद्रगुप्त* अपनी राजधानी को लौटा तो उसे अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु दिखाई दिए, अतः उसने उनका उच्छेदन आरंभ किया। आर्यावर्त के जिन शासकों को इस बार उसने पराजित किया उनमें *रुद्रदेव* का नाम सर्वप्रथम है। *रुद्रदेव* नामक किसी अन्य शासक के ज्ञान के अभाव में लोगों का अनुमान रहा है कि वह *वाकाटक* वंश का *रुद्रदेव प्रथम* था। समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा मध्यभारत और पश्चिम की ओर नहीं हुई थी। उसका एरण वाला शिलालेख ही एक ऐसा लेख है जो उसके पश्चिम में किसी सीमा तक जाने का संकेत देता है। किंतु वाकाटक रुद्रसेन के पुत्र *पृथिवीषेण प्रथम* के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसके अधीन यमुना के दक्षिण से लेकर विंध्य के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश था। इन दोनों का समन्वय करते हुए विद्वानों की यह धारणा रही है कि समुद्रगुप्त ने वाकाटक रुद्रसेन प्रथम से उसके प्रदेश का पूर्वी भाग अर्थात् यमुना और विदिशा के बीच का भाग छीन लिया था। किंतु अब कौशांबी के शासक रुद्र के सिक्के के मिल जाने पर यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि *समुद्रगुप्त* की प्रशस्ति में उल्लिखित *रुद्रदेव वाकाटक रुद्रसेन* था। उसकी पहचान कौशांबी के इस रुद्र से करना ही अधिक उचित और वस्तुस्थिति के अनुकूल होगा।

इस प्रकार से कौशांबी के राजनीतिक इतिहास का ६०० वर्षों का पूरा चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है, जो इस बात को व्यक्त करता है कि कौशांबी के शासक इन ६०० वर्षों में स्वतंत्र रूप से राज्य करते रहे और उनका ह्रास गुप्त शासकों के उदय होने पर ही हुआ। इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि *कुषाण साम्राज्य* का विस्तार इस राज्य को पार कर काशी अथवा पाटलिपुत्र तक नहीं हुआ था। यदि हुआ होता तो यह स्वतंत्र राज्य इतने काल तक अक्षुण्ण न बना रहता, कुषाण शासकों ने उसे कुचलकर कभी का नष्ट कर दिया होता; क्योंकि

२८—वही भाग ४, पृ० ११६

२९—संग्रहाध्यक्ष से प्राप्तसूचना।

काशी अथवा पाटलिपुत्र के लिये जानेवाले राजमार्ग में वह प्रमुख स्थान रखता था। कुषाण शासन में हमें करद अथवा अधीन राजाओं के होने अथवा उनके सिक्के प्रचलित किए जाने का उदाहरण अब तक प्राप्त नहीं है। सारनाथ की बुद्धमूर्ति पर कुषाण तिथि का जो अभिलेख है, उससे यह ज्ञात नहीं होता कि कुषाण क्षत्रप और महाक्षत्रप कभी काशी पर शासन करते थे। उस मूर्ति का दाता एक यात्री था और तीर्थयात्रा के निमित्त आया था। यदि उसने उसपर वनस्फर का नाम अंकित कराया है तो वह केवल अपने प्रदेश के, जहाँ से वह आया था, क्षत्रप के प्रति भक्ति प्रदर्शित करता है, जो स्वाभाविक है। उसे कुषाण शासन का प्रमाण स्वीकार करना उचित न होगा। नए शोधों के प्रकाश में यह प्रश्न नये सिरे से विचारणीय है।

देवगिरि के यादवों का शासन-प्रबंध

[श्रीविशुद्धानंद पाठक]

प्राचीन भारतीय, विशेषतया दक्षिण भारतीय इतिहास में देवगिरि के यादवों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद) में अपनी राजधानी स्थापित करने के पहले यादव नृपति श्रीनगर (बंबई प्रांत के नासिक जिले में स्थित आधुनिक सिन्नार[1]) से अपना शासन चलाया करते थे। शासन-प्रबंध की दृष्टि से दोनों राजधानियों को यहाँ एक माना गया है परंतु ऐतिहासिक पुस्तकों में देवगिरि की प्रमुखता होने के कारण उसी के नाम से विषय की चर्चा की गई है। उपर्युक्त दो स्थानों से एक ही यादव वंश ने राज्य किया और उसके उत्कर्ष के दिनों में उसकी शक्ति दक्षिण-भारत के एक प्रमुख तथा सुविस्तृत भाग (मैसूर के उत्तरी-पश्चिमी भाग से लेकर उत्तर में ताप्ती नदी के किनारे तक बंबई प्रांत का आधा निचला भाग—प्राय. सारा आधुनिक मराठी भाषाभाषी प्रांत) पर स्थापित थी। इतने बड़े भूखंड पर शासन करने के लिये यादवों ने निश्चय ही अपनी एक विशिष्ट शासन-पद्धति प्रचलित की होगी। उसी पद्धति का एक विवेचन प्रस्तुत करने का इस लेख में प्रयत्न किया जायगा।

समय के राजनीतिक प्रचलन के अनुसार देवगिरि के यादवों के शासन का स्वरूप भी राजतंत्रीय ही था। प्रत्येक प्रकार की शक्ति अथवा अधिकार का निवास राजा में था और वही राज्य का सर्वोच्च अधिकारी था। देवगिरि के सुविस्तृत राज्य में उन सामंतों का भी सन्निवेश था, जिन्होंने यादवों की अधिसत्ता को स्वीकार कर लिया था। कदंबनृपति सोवदेव को सिंहण द्वितीय (१२१० ई० से १२४६ ई० तक) के दक्षिणस्थ मंडलेश्वर (सूबेदार) ने हराया था, परंतु कालांतर में कदंब राज्य पुनः सोवदेव के वंशज षष्ठवर्मन् को लौटा दिया गया[2]

1—जर्नल ऑव् इंडियन हिस्ट्री (मद्रास), जिल्द ५ पृष्ठ ११८

2—इंडियन ऐंटीक्वेरी, जिल्द १७, पृष्ठ २८८

और उसने सामंत के रूप में शासन आरंभ किया। आधुनिक धारवाड़ जिले पर शासन करनेवाले गुत्त (गुप्त) लोग भी हराए गए थे, परंतु उन्हें भी अपने क्षेत्र पर शासन करने की आज्ञा यादवों से प्राप्त हो गई थी।[3] ये उदाहरण यादव राज्य में सामंत तत्व की स्थिति के पक्ष में अलं हैं।

केंद्रीय शासन —

राजा ही शासन का प्रधान होता था। सिद्धांततः तो उसकी शक्ति अमर्यादित थी, परंतु कार्यतः ऐसी बात नहीं थी। राजधर्म के नियमों, ब्राह्मणों एवं संन्यस्त यतियों के उपदेशों तथा साधारण जनता की इच्छाओं की अवहेलना साधारणतया नहीं होती थी। राजा के मुख्य कर्त्तव्य तीन हुआ करते थे—(१) शासन-संबंधी (२) न्याय-संबंधी तथा (३) सैनिक। वह राज्य की संपूर्ण कार्यकारिणी का प्रधान होता था और न्याय की दृष्टि से सर्वोच्च न्यायाधीश समझा जाता था। पर सबसे मुख्य तो था उसका सैनिक कर्त्तव्य। यादवों ने देवगिरि को केंद्र बनाकर उस समय शासन किया था जब भारतवर्ष सैनिक तथा शासन की दृष्टियों से अनेक टुकड़ों में विभक्त था। नर्मदा से उत्तर के भारतवर्ष पर प्रायः मुसलमान आक्रमणकारियों का शासन स्थापित हो चला था एवं उसके दक्षिण भी अनेक प्रतिद्वंद्वी हिंदू राजाओं की राजनीतिक तथा सैनिक होड़ चल रही थी। भारतीय इतिहास में राष्ट्रकूटों एवं प्रतिहारों के समय से जिस सैन्य युग का प्रारंभ हुआ, उसका अभी अंत नहीं हुआ था। ऐसे युग में यादव नृपतियों में सैनिक योग्यता तथा तत्संबंधी कर्त्तव्यों को निभा सकना ही राज्य के लिये सबसे बड़ा प्रमाणपत्र हो सकता था। वस्तुतः ये गुण उन राजाओं में थे भी। उन्होंने सेना का पूर्ण संघटन ही नहीं किया, अपितु अवसर उपस्थित होने पर उसे युद्धक्षेत्र में ले जाकर अपने रण-कौशल का परिचय भी दिया।

दुर्भाग्यवश हमें राजदरबार के अधिकारियों का विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता, पर उस समय की प्रथाओं तथा द्वारसमुद्र के हयसालों के लेखों के आधार पर अनुमान से तद्विषयक एक चित्र खींचा जा सकता है। राजा के अंगरक्षक होते थे तथा प्रतिहारों की भी व्यवस्था थी। अंतःपुर के अधिकारी को 'अन्तःपयासित'[४] कहते थे। देवगिरि के यादवों से संबंधित कुछ लेखों में इस प्रकार के

३—रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका, बंबई शाखा, जिल्द १५, पृष्ठ ३८९

४—मैसूर विश्वविद्यालय की पत्रिका, जिल्द ३, भाग १, पृष्ठ ९७

कुछ और अधिकारियों का भी वर्णन है। सिंहण द्वितीय (१२१० ई० से १२४६ ई०) के एक दानपत्र[५] में दामोदर नामक पुरोहित, केवदी नामक तांबूल-वाहक एवं देवधर नामक दंडाधिकारी का वर्णन है। कृष्णदेव (१२४६ ई० से १२६० ई०) के एक दूसरे लेख[६] में सर्वेश्वरदेव नामक पुरुष को राजगुरु बतलाया गया है, पर यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि यह पद कोई दरबारी पद था अथवा मंत्रिमंडल में से ही एक था।

मंत्रिपरिषद्—

प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति में मंत्रिपरिषद् का एक अविच्छेद्य स्थान था। यादव राज्य भी इस नियम का अपवाद नहीं था। कृष्ण यादव (१२४६ से १२६० ई०) के एक लेख में देवगिरि में राजसभा की चर्चा प्राप्त होती है।[७] उसी शासक के एक लेख में मंत्री की तुलना स्वयं राजा की जिह्वा तथा दाहिने हाथ से की गई है।[८] ऐसा प्रतीत होता है कि राजा अलग अलग मंत्रियों की राय से ही संतुष्ट नहीं हो जाता था, अपितु सारा मंत्रिमंडल ही एक इकाई था। आजकल की तरह संयुक्त उत्तरदायित्व की कल्पना तो उन दिनों के शासन के संबंध में नहीं की जा सकती, परंतु मंत्रिमंडल में किसी समान नीति का अवलंबन तो अवश्य ही होता रहा होगा। विशेष विषयों पर राय देना ही इस मंत्रिमंडल का कार्य होता था अ॰ राजा बिना उनकी राय के कोई भी कार्य नहीं करता था। किसी धार्मिक संस्था को एक दूकान की आय का दान करने जैसे साधारण कार्य के लिये भी सेउणचंद्र द्वितीय को अपने मंत्रिमंडल की राय लेनी पड़ी थी।[९] भिल्लम पंचम ने भी इसी प्रकार का एक दान अपने मंत्री जैत्रसिंह के कहने पर किया था।[१०] दानपत्र में उपर्युक्त मंत्री राजा का 'दाहिना हाथ' कहा गया है। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि यादव राजाओं ने मंत्रिमंडल का भरपूर आदर किया तथा उनमें से किसी ने भी मंत्रियों की राय की कभी अवहेलना नहीं की। यही नहीं, कभी कभी तो सारा राज्य-संचालन भी योग्य मंत्रियों के हाथ में चला

५—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख सं० ३११

६—रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका, बंबई शाखा, जिल्द १२ पृष्ठ ३८

७—वही, पृष्ठ ३४, "राजसदसि देवगिरौ"।

८—इंडियन ऐंटीक्वेरी, जिल्द १७ पृ० ६९

९—वही, जिल्द १२, पृष्ठ १२६

१०—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १, पृष्ठ २१८

जाता था। थाना दानपत्र में रामचंद्र के मंत्री हेमाद्रि को 'समस्त हस्तिपालकों का पर्यवेक्षक, मंत्रियों का मणिमुकुट, समस्त राज्यकोष का विधायक एवं उनकी (हेमाद्रि की) कृपा से प्राप्त समस्त राज्य का शासक' कहा गया है।[११] वे रामदेव के श्रीकरणाधिप अर्थात् पटल विभाग के मुख्य अधिष्ठाता भी थे। पुनः इसी प्रकार रामचंद्र के एक दूसरे मंत्री की योग्यता तथा पद का वर्णन प्राप्त होता है। एक लेख में कहा गया है, 'जैसे अनुज राम के लिये थे, उसी प्रकार मंत्री तिप्प रामचंद्र (यादव) के लिये हैं—भरपूर स्वर्णयुक्त एवं खेतिहरों की सभा में सर्वप्रधान। मेरा धन नष्ट नहीं होगा, आठों दिशाओं से भेंट आती जायगी तथा राज्य वृद्ध नहीं होगा। ऐसा कहकर रामचंद्र ने समस्त राज्य को तिप्परस के हाथों सौंप दिया।'[१२]

मंत्रियों की योग्यता का उनकी नियुक्ति के अवसर पर अवश्य ध्यान रखा जाता होगा। महादेव के दो मंत्रियों, छत्तराज और कुबराज को 'श्रद्धा, क्षत्र और धीरता' के गुणों से पूर्ण बताया गया है।[१३] अनेक प्रकार की योग्यताओं में सैनिक योग्यता का भी प्रधान स्थान था और कुछ लेखों से ज्ञात होता है कि यादवों ने नायकों, महाप्रचंड नायकों तथा प्रधानों एवं महाप्रधानों को अपने मंत्रिमंडल में स्थान दिया था।[१४] इन नियुक्तियों में कौटुंबिक संबंध, शासनसंबंधी योग्यता, वीरता तथा राजभक्ति का कुछ कम स्थान न रहा होगा। वंशपरंपरागत मंत्रित्व का भी वर्णन प्राप्त होता है। कवि जल्हण-रचित सूक्तिमुक्तावली से ज्ञात होता है कि जल्हण का परिवार वंशपरंपरा से यादवों की हस्तिसेना का संचालन करता रहा।[१५]

यादव-राज्यकालीन मंत्रिमंडल के सदस्यों की संख्या नहीं निश्चित की जा सकती। यह आवश्यकतानुसार घटती-बढ़ती रहती थी। श्रीनगर के यादव राजा सेउणचंद्र द्वितीय, जिनके वंशजों ने आगे चलकर देवगिरि को अपनी राजधानी बना ली, के समय में यह संख्या सात थी। बेसोन लेख में[१६] उन मंत्रियों के नाम और पद निम्नलिखित प्रकार से दिए गए हैं—

११—वही, जिल्द ११, पृष्ठ ११८

१२—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ११, देवनगेरी तालुका का लेख सं० ७० तथा ७० ब

१३—वही, जिल्द ७, चन्नगिरि तालुका का लेख सं० २१

१४—इंडियन ऐंटीक्वेरी, जिल्द १२, पृष्ठ ११९

१५—सूक्तिमुक्तावली, गायकवाड़ सिरीज, भूमिका, श्लोक १५-२५

१६—इंडियन ऐंटीक्वेरी, जिल्द १२, पृष्ठ ११९

(१) श्रीधर—महाप्रचंड दंडनायक (महासेनापति)
(२) वासुदेवैय—महामात्य (महामंत्री)
(३) भभियाक—महाप्रधान नायक (मंत्रियों के प्रधान)
(४) श्रीनायक—सांधिविग्रही (संधि एवं युद्ध मंत्री)
(५) भैवैयनायक—पाटलकरणश्री (पटल अर्थात् कागज-पत्रों के मंत्री)
(६) श्रीऔपायक—राजाध्यक्ष (विदेश मंत्री)
(७) आमादित्य—महत्तम श्री (जिले का प्रधान अफसर)

उपर्युक्त दानपत्र राजकीय शिक्षक (गुरु) के नाम है और यह कहना बड़ा कठिन है कि वह मंत्रिमंडल में था तथा प्राचीनकालीन पुरोहित के समान था अथवा नहीं। 'महाप्रधान' मंत्रिमंडल का प्रधान होता था। आगे चलकर उसी पद को 'सर्वाधिकारिन्' नाम से संबोधित किया जाने लगा।[१७] हेमाद्रि रामचंद्र के सर्वाधिकारी अर्थात् मुख्य मंत्री थे।[१८] इन मंत्रियों के उत्तरदायित्व में अलग अलग विभागों का बँटवारा होता था। हेमाद्रि[१९] 'श्रीकरण' अर्थात पटल विभाग, हस्ति-चालकों तथा कोष विभाग के लिये भी उत्तरदायी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मुख्य मंत्री के हाथों में कभी कभी संपूर्ण राज्यसत्ता सौंप दी जाती थी। सिंहण-द्वितीय के एक लेख से ज्ञात होता है कि उसने अपने सर्वाधिकारी राय नायक नारायण मायिदेव पंडित से परामर्श करके तथा उसके हाथों में राज्य-कार्य की सभी चिंता छोड़कर पारिवारिक सुख एवं ऐश्वर्य का भोग किया।[२०] उसी लेख से यह भी पता चलता है कि उक्त मंत्री ने राज्यशासन प्रजा के इच्छानुकूल स्थिर किया, राज्य के सभी शत्रुओं का नाश किया तथा सारी पृथ्वी का भार वहन किया। समस्त राज्य-कार्य का संचालन करना इस बात का प्रमाण है कि उपर्युक्त मुख्य मंत्री ने राजा पर अपना पूर्ण प्रभाव जमा लिया था। आगे चलकर रामदेव के समय में हेमाद्रि ने भी इन अधिकारों का भोग किया था।

यादव राजाओं ने समय और आवश्यकतानुसार मंत्रियों की संख्या में हेर-फेर करना उचित समझा। अमात्य नामक मंत्री माल के शासन का उत्तरदायी होता

१७—वही, जिल्द ७, पृष्ठ २०७
१८—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १३, पृष्ठ १९८
१९—वही।
२०—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ७, शिकारपुर तालुका का लेख सं० ९५

था।[२१] कोष का उत्तरदायित्व वहन करनेवाले मंत्री को कोषाधिकारी कहते थे।[२२] राज्यशासन में युवराज का स्थान भी प्रमुख होता था। कृष्ण यादव के १२५० ई० वाले लेख से ज्ञात होता है कि उसका छोटा भाई एवं युवराज महादेव उसके लिये उसी तरह था जैसे राम के लिये लक्ष्मण अथवा युधिष्ठिर के लिये अर्जुन।[२३] ऐसा प्रतीत होता है कि युवराज भी शासन-संबंधी महत्त्वपूर्ण पदों का अधिष्ठाता होता था और संभवतः राजा की अनुपस्थिति में गद्दी का भी मालिक होता था।

केंद्रीय शासन के नित्यप्रति के शासन-संबंधी किन्हीं अन्य संघटनों का ज्ञान हमें नहीं प्राप्त होता। पर उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर राज्य और शासन की महत्ता को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि एक सुबृहत् कार्यकारिणी की व्यवस्था रही होगी।

शासन संविभाग—

किसी भी बड़े राज्य की सुस्थिति, शासन की कुशलता, दृढ़ता तथा शीघ्रकारिता पर निर्भर होती है। परंतु उपर्युक्त बातों के लिये शासन का विकेंद्रीकरण आवश्यक है। प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति में विकेंद्रीकरण के सिद्धांत का भरपूर पालन होता था। यादव राज्य भी शासन की सुविधा के हेतु अनेक छोटे बड़े भागों में विभक्त था और प्रायः प्रत्येक छोटा भाग शासन की दृष्टि से तत्समान बड़े भाग का प्रतिरूप सा होता था और आवश्यकतानुसार शासन के संपूर्ण आडंबरों से युक्त होता था।

राष्ट्रकूटों का साम्राज्य, जो दक्षिण-भारतीय इतिहास में एक प्रमुख स्थान रखता है, प्रांतों में विभक्त था, जिन्हें राष्ट्र कहते थे। परंतु यादव राज्य के प्रांतों को 'मण्डल' कहते थे। सिंहण द्वितीय का गवर्नर—महामंडलेश्वर—मल्लालदेव १२१८ ई० में मसवादि देश पर शासन करता था।[२४] इस अवसर पर इन प्रांतपतियों के विरुद 'महामण्डलेश्वर' शब्द पर टीका करते हुए डा० अनंत-सदाशिव अल्तेकर का कथन सत्य प्रतीत होता है कि वे लोग सामंतविरुदों का

२१—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ३, पृष्ठ २१५
२२—जर्नल ऑव इंडियन हिस्ट्री, जिल्द ५, पृष्ठ २०२
२३—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १९, पृष्ठ १९
२४—बंबई गजेटियर, जिल्द १ भाग २।२, पृष्ठ ५२३

अपने लिये प्रयोग करने में अधिसत्ताप्राप्त यादवों द्वारा स्वतंत्र छोड़ दिए गए थे।[२५] इसका कारण यह था कि अधिकांश मंडलेश्वर प्रायः उन स्थानीय सामंतों के वंशज थे जिनको देवगिरि के यादवों ने जीतकर अपने राज्यांतर्गत कर लिया था तथा पुनः अपने परंपराप्राप्त क्षेत्रों पर शासन करने की आज्ञा दे दी थी। सिंहण द्वितीय के एक दूसरे प्रांतपति वीरबिज्जरस को नगरों में सर्वश्रेष्ठ माहिष्मती का अधीश्वर कहा गया है।[२६] यादवकालीन शासन में प्रांत के लिये दूसरा नाम था 'देश'। सिंहण द्वितीय के ही एक दूसरे लेख में मायिदेव को बनवासी देश का सर्वाधिकारी कहा गया है।[२७] यह कहना बड़ा कठिन है कि यादव राज्य का कितने प्रांतों में विभाजन हुआ था, पर देवगिरि राज्य के बृहदाकार को देखकर यह आसानी से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रांतों की संख्या काफी रही होगी। 'मण्डल' अथवा 'देश' के सिवा प्रांत की एक तीसरी संज्ञा 'नाद' भी थी। कृष्ण यादव (१२४६ ई० से १२६० ई०) के समय एक प्रांत को नाद कहा गया है।[२८]

शासनयंत्र में प्रांत से छोटी इकाई 'विषय' की होती थी। इसकी समानता आजकल के जिले से की जा सकती है। महादेव यादव (१२६० ई० से १२७० ई०) के एक लेख से ज्ञात होता है कि उसके दक्षिणस्थ मंडलेश्वर देवराज ने बासुरा-विषयस्थ बांगुरा नामक ग्राम का दान किया।[२९] विषय के अफसर का नाम प्राप्त लेखों से हमें ज्ञात नहीं होता, परंतु यह कल्पना की जा सकती है कि राष्ट्रकूट शासन की नाईं उन्हें विषयपति कहा जाता होगा।[३०] यादवों का कोई भी ऐसा लेख नहीं प्राप्त होता जिसमें शासन की सुविधा के हेतु विषयों का गाँवों से बड़े किसी अन्य भाग में बँटवारा हुआ हो। पर राष्ट्रकूटों के समय में प्रत्येक विषय भुक्तियों में बँटा हुआ था जिनके प्रधान अधिकारियों को भोगपति[३१] कहते थे। यह संभव प्रतीत होता है कि इस प्रकार के शासन संविभाग यादवकाल में भी वर्तमान रहे हों। कारण, उपर्युक्त

२५—राष्ट्रकूटों का इतिहास (अंग्रेजी में, प्रकाशित १९३४ ई०), पृष्ठ १०४
२६—बंबई गजेटियर, जिल्द १ भाग २।१, पृष्ठ ५२३
२७—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख सं० १३५
२८—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख ४२६
२९—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १९, पृष्ठ १८९
३०—द राष्ट्रकूटज ऐंड देयर टाइम्स, अ० स० अल्तेकरकृत, १९३४, पृष्ठ १३६
३१—वही, पृष्ठ १३०

दोनों वंशों के राज्य लगभग एक ही प्रदेश पर फैले हुए थे और शासन की दृष्टि से प्राचीन भारतवर्ष में परिवर्तन बहुत कम हुआ करते थे। प्रसंगवश यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि तत्कालीन उत्तर-भारतीय शासन में प्रदेश-संविभाजन की दृष्टि से भुक्ति विषय से बड़ी इकाई होती थी।[३२]

शासनगत व्यवस्था में ग्राम सबसे छोटी इकाई होता था। कभी कभी कई छोटे छोटे गांवों को मिला देते थे और उनकी कार्य-व्यवस्था उनमें से सर्वमुख्य गाँव के नाम चलाते थे। रामचंद्र (१२७१ से १३१२ ई०) के एक लेख से ज्ञात होता है कि वनवल्ली (एक गाँव) जिसे लक्ष्मीनारायणपुर कहते थे, पृथ्वी पर स्वर्ग के समान था तथा उसमें इलेवत्ती, हलेहली तथा जिगुली नामक तीन पुरवे (छोटे गाँव) सम्मिलित थे।[३३]

प्रदेशों एवं विषयों का शासनयंत्र—

यादव शासन के बहुत ही कम देशों अर्थात् प्रांतों एवं उनके शासकों की चर्चा हमें प्राप्त होती है। दक्षिण का प्रांत प्रायः सभी प्रांतों में सर्वमुख्य था। द्वारसमुद्र के हयसालों की सीमा से लगे रहने के कारण तथा उन राजाओं से यादवों के सर्वदा युद्ध होते रहने के कारण देवगिरि राज्य के दक्षिणस्थ प्रांत का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान था और वहाँ प्रायः कोई सैनिक अधिकारी ही मंडलेश्वर बनाकर भेजा जाता था। सिंहण द्वितीय (१२१० ई० से १२४६ ई०) के समय में बिचन नामक एक योग्य सेनापति को इसका प्रांतपतित्व सौंपा गया था[३४] तथा उसके पुत्र चौंडराज ने कृष्ण यादव (१२४६ से १२६० ई०) के समय में उस भार को निभाया।[३५] महादेव के समय में (१२६० ई० से १२७० ई० तक) यह पद देवराज नामक सेनानी के द्वारा अलंकृत होता रहा[३६] तथा रामचंद्र (१२७१ से १३१२ ई०) के समय में सालुव टिक्कमराज को इसका भार सौंपा गया था।[३७] इसकी राजधानी मैसूर-स्थित वेट्टूर नामक स्थान में थी। यादवों का दूसरा प्रांत अथवा

३२—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ७, पृष्ठ २०८

३३—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ११, देवनगीरे तालुका का लेख ७० तथा ७० ब

३४—रा० ए० सो० पत्रिका, बंबई शाखा, जिल्द १५, पृष्ठ ३८६ तथा ३८७

३५—वही, जि० १२, पृ० ४३

३६—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १३, पृष्ठ १८९

३७—लेविस राइस कृत, माइसूर ऐंड कुर्ग इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १०९-११०

मंडल था कोंकण। कृष्ण और रामचंद्र के समय में इस प्रांत का भार अच्युत नायक नामक अधिकारी को सौंपा गया था।[३८] इनके सिवा कुहुंद प्रांत में सिंहणल्ली से विचन का बड़ा भाई मल्ल अथवा मल्लिसेट्टी शासन करता था।[३९] यह प्रांत संभवतः आधुनिक बेलगाँव जिले में स्थित था। इन प्रांतों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रांत का हमें पता नहीं चलता। यादव राज्य का शेष भाग कदाचित् देवगिरि से ही शासित होता रहा हो।

प्रांतों के गवर्नरों को मांडलिक अथवा मंडलेश्वर कहते थे और वे प्रायः सैनिक पुरुष हुआ करते थे। उन्हें अपने अधिपतियों की ओर से युद्ध भी करने पड़ते थे। विचन ने सिंहण द्वितीय की ओर से हयसालों के विरुद्ध युद्ध किया था।[४०] प्रांत में राज्यसत्ता के विरुद्ध उठ खड़े हुए विद्रोहों को भी शांत करना उनका कार्य था।[४१] इन कार्यों में वे अपने नीचे के अफसरों से सहायता लेते थे। इस प्रकार प्रांत के शासकों को अपनी सीमा के भीतर शांति-स्थापना के अतिरिक्त यदि वे राज्य की सीमा पर हुए तो सीमा की रक्षा भी करनी होती थी। राजा की आज्ञा से वे स्थानांतर को भी भेजे जा सकते थे।

प्रांतों में माल का शासन भी उपर्युक्त मंडलेश्वरों के द्वारा ही चलता था। कर-प्राप्ति के वे ही उत्तरदायी थे।[४२] इससे प्रतीत होता है कि प्रांतीय शासन प्रायः संपूर्णतः उनकी देखरेख में था। परंतु ये राजाज्ञा के बिना न तो लगान में कोई छूट दे सकते थे और न किसी भूमि का दान ही कर सकते थे।[४३] प्रांत के सैनिक शासन की भी देखरेख इन्हीं प्रांतपतियों द्वारा होती थी। राष्ट्रकूट राज्य में शासन के इन सभी कार्यों में सहायता पहुँचाने तथा राय देने के लिये प्रांतों में राष्ट्रमहत्तरों की एक समिति होती थी।[४४] राष्ट्र के प्रतिष्ठित लोग एवं संभवतः कुछ अधिकारी भी इसके सदस्य होते थे और मांडलिकों को गंभीर प्रश्नों पर इनसे राय लेनी होती थी।

३८—रायल एशियाटिक सोसायटी पत्रिका, जिल्द २, पृष्ठ ३८८; एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ११, देव० तालुका का ७० तथा ७० व लेख।

३९—रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका, बंबई शाखा, जिल्द ११, पृष्ठ २७

४०—वही, जिल्द १५, पृष्ठ ४८

४१—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का २१७ वाँ लेख।

४२—वही, जिल्द ११, देवनगेरी तालुका का ७० और ७० व लेख।

४३—इंडियन एंटीक्वेरी, जिल्द ७, पृष्ठ ३०३

४४—द राष्ट्रकूट्ज एंड देयर टाइम्स, अ० स० अल्तेकरकृत, १९३४, पृष्ठ १७६

यादव राज्य में भी शासन के हेतु ऐसी परामर्शदात्री संस्था की कल्पना की जा सकती है। प्रांत के पूरे शासनयंत्र में केंद्रीय शासनयंत्र की प्रायः पूरी नकल पाई जाती थी। प्रायः प्रत्येक विभाग का संगठन केंद्र के आदर्श पर ही होता था।

विषयों का शासन संभवतः विषयपतियों के अधीन चलता था। जिले के ये अधिकारी प्रांतों के अधिकारियों के छोटे रूपमात्र थे। कभी कभी केंद्रीय शासन के विरुद्ध उनके विद्रोह कर देने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके हाथों में भी कुछ सैनिक शक्ति रहती थी। सिंहण के एक लेख[४५] से ज्ञात होता है कि तरावुर इदुगुलोथान में नियुक्त सिंहण के ठक्कुर नामक एक नायक ने अपनी शक्ति बढ़ा ली थी और उसने राजाज्ञाओं का उल्लंघन करना प्रारंभ कर दिया था, तथा इंदुनिधि में नियुक्त नालप्रभु कानेय को आक्रमण करके उसका दिमाग सीधा करना पड़ा था। प्रांतों की नाईं जिलों के अधिकारी भी अपने क्षेत्र के भीतर न्याय. माल तथा सैनिक सुशासन के लिये उत्तरदायी होते थे। सीमा पर नियुक्ति होने पर राजाज्ञा से परवर्त्ती क्षेत्रों में लूटखसोट के लिये आक्रमण भी करते थे। करों का उगाहना भी उनका कर्त्तव्य था। जिले के उपर्युक्त अधिकारियों का वेतन उनकी शासन-सीमा से प्राप्त होनेवाले करों का राज्य द्वारा निर्धारित कुछ अंश होता था, जिसे वे वस्तुओं के रूप में ही लेते थे।[४६]

स्थानीय शासन--

यादव नृपतियों के प्राप्त लेखों से हमें उनके नगर-शासन का कुछ विशेष पता नहीं चलता। ऐसी परिस्थिति में हमें अनुमान तथा दूसरे समसामयिक या पूर्ववर्त्ती राज्यों के नगर-शासन से अपनी सामग्री प्राप्त करनी होती है। यहाँ हमें राष्ट्रकूटों के लेखों से कुछ सहायता मिलती है और हमारा अनुमान है कि संभवतः यादव राज्य में भी उसी प्रकार का नगर-शासन प्रचलित रहा; क्योंकि बहुत काल तक तो यादव लोग राष्ट्रकूटों के सामंत रहे और स्वतंत्र होने पर भी उन्होंने उन्हीं के प्रदेशों पर शासन किया। प्राचीन भारत में राज्यों के परिवर्तन के साथ स्थानीय शासनयंत्र में बहुत परिवर्तन नहीं होता था। अतः राष्ट्रकूटों के शासन के आधार पर हम कह सकते हैं कि यादवों के समय में भी

४५—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का २१७ वाँ लेख।

४६—अल्तेकर कृत हिस्ट्री ऑव दि विलेज कम्यूनिटीज इन वेस्टर्न इंडिया, पृष्ठ १०-११

नगर का शासन पुरपतियों या नगरपतियों के द्वारा चलाया जाता रहा होगा।[४७] उनकी सहायता के लिये नगर के कुछ बुद्धिमान् तथा मान्य लोगों की समिति भी अवश्य रही होगी। प्राचीन भारत में इस प्रकार की नगर-समितियाँ प्रायः सर्वदा पाई जाती रही हैं।

ग्राम-शासन का मुख्य अधिकारी प्राचीन भारत में कई नामों से पुकारा जाता था। जैसे ग्रामिक, ग्रामणी, ग्रामकूट तथा ग्रामभोजक आदि। वह ग्राम-शासन का प्रधान होता था तथा स्थानीय सैन्यशक्ति की सहायता से किसी भी आक्रमण के समय ग्राम की रक्षा करना उसके अनेक कार्यों में से एक था। उसका दूसरा मुख्य कर्त्तव्य था कर वसूल करना।[४८] ग्रामवासियों के बीच उठ खड़े हुए अनेक झगड़ों को निपटाने में वह न्यायाधीश का भी कार्य करता था।[४९] उसे राज्य की ओर से वेतन के रूप में करमुक्त भूमि प्रदान की जाती थी। गाँव की समस्याओं को सुलझाने में उसका मुख्य हाथ होता था और केंद्रीय सरकार के द्वारा नियुक्त किए जाने पर भी वह प्रायः जनता का विश्वासपात्र मनुष्य होता था। गाँव का दूसरा मुख्य अधिकारी कोषाधिकारी होता था।[५०] परंतु प्रत्येक ग्राम में यह पदाधिकारी नहीं होता था, क्योंकि कई छोटे छोटे ग्राम कभी कभी शासन की सुविधा के लिये बड़े ग्रामों से संबद्ध कर दिए जाते थे। वह ग्रामिक की देखरेख में अपना कार्य करता था और प्रतिष्ठा में उससे कम था।

ग्राम-समिति ग्राम की सर्वमुख्य संस्था होती थी। ग्राम के सरकारी पदाधिकारियों की मदद तथा उनके कार्यों पर दृष्टि रखने के लिये गैरसरकारी एवं मुख्य लोगों की यह संस्था प्राचीन भारतीय शासन-प्रणाली की सर्वदा एक विशेष अंग रही। यादवों के लेखों में भी इसका वर्णन प्राप्त होता है।[५१] इसके सदस्यों को महत्तर और अधिकारिक महत्तर कहते थे। यह संख्या ग्रामवृद्धों से बनी होती थी।[५२] ग्राम के सभी लोगों के इसमें होने की कल्पना नहीं की जा सकती। ग्रामिक तथा ग्रामसभा को माल के शासन में अनेक अधिकार प्राप्त थे और वे मुकदमों में

४७—द राष्ट्रकूटज एंड देयर टाइम्स, पृष्ठ १८१

४८—हिस्ट्री ऑव दि विलेज कम्यूनिटीज, पृष्ठ ५

४९—वही, पृष्ठ ७

५०—वही, पृष्ठ ११

५१—वही, पृष्ठ १०

५२—वही, पृष्ठ ११

समझौता कराने के अतिरिक्त उनका निर्णय भी करते थे। याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका से यह ज्ञात होता है कि उस समय पूग, श्रेणी और कुलों के विभिन्न न्यायालय होते थे।[५३] अतः यह कहा जा सकता है कि यादव राज्य में ग्रामों को न्याय प्राप्त करने का अपने ही पास अधिकार होता था। गाँव का मुख्य न्यायालय 'पूग' कहलाता था और कभी कभी यहाँ से राज्य के बड़े न्यायालयों को अपीलें भी जाया करती थीं। पूगों का निर्माण ग्राम-महत्तरों से होता था। फौजदारी के मुकदमों में गाँव के इन न्यायालयों का अधिकार बड़ा सीमित था और वे छोटे-मोटे मारपीट के मामलों को ही देख सकते थे।

केंद्र की ओर से गाँवों के लिये समुचित पुलिस की व्यवस्था रहती थी। यादवों के अनेक लेखों से ज्ञात होता है कि उन दिनों लुटेरों तथा पार्श्ववर्ती दूसरे राज्यों के लोगों द्वारा प्रायः लूट-खसोट मची ही रहती थी।[५४] गाँव की संपत्ति तथा गायों की चोरी हुआ करती थी। इन उपद्रवों से रक्षा के लिये राज्य की ओर से पुलिस का अवश्य प्रबंध रहा होगा।

माल का शासन—

"अर्थानर्थौ वार्त्तायाम्"[५५] एवं "वार्त्तया धार्यते सर्वम्"[५६] आदि क्रमशः कौटिल्य और महाभारत की उक्तियों को, ऐसा प्रतीत होता है, यादव नृपतियों ने खूब समझा था। उन्होंने अर्थ को राज्य की रीढ़ मानकर इसे संग्रह करने का पूरा प्रयत्न किया था। मुसलमान इतिहासकारों ने रामचंद्र यादव पर विजय पाने के पश्चात् अलाउद्दीन खिलजी के जिस अपार धनराशि को दिल्ली ले जाने का वर्णन किया है[५७] उससे देवगिरि के विपुल राज्यकोषों की सहज ही कल्पना की जा सकती है।

५३—वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर द्वारा संपादित तथा पांडुरंग जावजी (बंबई) द्वारा प्रकाशित, १९२१ ई०, पृष्ठ १७२। यहाँ पूग भिन्न व्यवसायों में लगे हुए परंतु एक ही स्थान पर निवास करनेवाले लोगों के समूह को कहा गया है और श्रेणी उसी संघात को नाम दिया गया है जिसमें एक ही व्यवसाय के लोग हों।

५४—एपि० कर्ना०, जिल्द ८, सोराब तालुका के लेख ३१९, ५०७, ५२३, ३०८, २५०, २६१

५५—अर्थशास्त्र, भाग १, प्रो० उदयवीर द्वारा हिंदी में अनूदित, लाहोर १९२५, विनयाधिकारिक अधिकरण १, अध्याय १, पृष्ठ ९

५६—महाभारत, वनपर्व १—५०

५७—फरिश्ता, ब्रिग्सकृत अंगरेजी अनुवाद, जिल्द १ पृष्ठ ३०४

कौटिल्य ने राज्य की आय के लिये सात स्रोत गिनाए हैं—(१) दुर्ग (२) राष्ट्र (३) सेतु (४) वन (५) व्रज (६) खनि और (७) वणिक्पथ। यद्यपि यादवों के किसी भी लेख से इन स्रोतों का वर्णन हमें नहीं प्राप्त होता, पर हम यह कह सकते हैं कि प्रायः इन सभी स्रोतों से राज्यकोष में धन आता रहा होगा। रामचंद्र के एक लेख से कुछ वस्तुओं पर लगाए गए करों का ज्ञान प्राप्त होता है।[५८] उन वस्तुओं में चावल, पान के पत्ते, इलायची तथा कसैली मुख्य थीं। इनमें से हम चावल तथा पान पर लगे हुए करों को 'राष्ट्र' अर्थात् भूमि से प्राप्त कर कह सकते हैं तथा इलायची और कसैली पर बैठाए हुए करों को 'वन' अथवा 'सेतु'[५९] से प्राप्त तालिका में रख सकते हैं। सिंहण द्वितीय के एक दूसरे लेख से ज्ञात होता है कि अन्न रेशमी वस्त्र और जवाहिरों आदि का व्यापार होता था और तेल पेरनेवाली मिलें भी थीं।[६०] इन वस्तुओं के आयात और निर्यात पर अवश्य कर लगाए गए होंगे। महादेव के एक तीसरे लेख से कपिलसिद्ध मल्लिकार्जुन देव को दान दिए हुए एक गाँव का वर्णन मिलता है जिसमें गाँव से प्राप्त खनिज, जुर्माने तथा शुल्कों आदि की आय भी दान कर दी गई है।[६१] इससे खानों से होनेवाली आय का ज्ञान प्राप्त होता है। शहरों तथा राज्य के अन्य भागों से इस प्रकार की और अतिरिक्त आय राज्य को अवश्य होती रही होगी। उपर्युक्त करों या आय को हम राज्य की निश्चित आय कह सकते हैं। पर इसके अतिरिक्त कुछ सामयिक आय भी होती थी जो कभी कभी विशेष कार्यों के हेतु लगाए हुए करों से आती थी। इस प्रकार का एक महत्त्वपूर्ण कर था 'राजसेवकानां वसतिदण्ड'।[६२] यह कर आक्रमण अथवा रक्षा के समय किसी विशेष स्थान पर राज्य के उच्चाधिकारियों के रुकने पर लगता था। राष्ट्रकूट-काल में इसी प्रकार का एक दूसरा भी कर लगता था, जो संभव है यादव राज्य में भी रहा हो। यह था 'चाट-भाट प्रवेशदण्ड'[६३] जो सेना अथवा पुलिस के किसी विशेष स्थान पर पहुँचने पर लगाया जाता था। राज्यों को सरकारी एकाधिकारों से

५८—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ११, देवनगिरि तालुका का ५२वाँ लेख।

५९—सेतु से प्राप्त आय वह होती थी, जो जल पार करने की सुविधाओं अथवा फलमूलादि पर लगे हुए करों से आती थी।

६०—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ७, शिकारपुर तालुका का ९५वाँ लेख।

६१—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २३, पृष्ठ १८९

६२—इंडियन एंटीक्वेरी, जिल्द १४, पृष्ठ ३१९

६३—द राष्ट्रकूटज एंड देयर टाइम्स, १९३४, पृष्ठ २३३

सर्वदा बहुत बड़ी आय होती रही है। यह सर्वथा संभव है कि यादव राज्य में भी कुछ वस्तुओं पर, जैसे सिक्कों और पेय पदार्थों पर, एकाधिकार रहा हो। जुआ और वारांगना-गृहों के संबंध में मत व्यक्त करने के लिये कोई सामग्री नहीं प्राप्त होती। अदालतों के शुल्कों तथा जुर्मानों से राज्य को एक बड़ी आय होती थी।[६४] उन लोगों की संपत्ति भी, जिनका कोई विधिविहित उत्तराधिकारी नहीं होता था, मरने के बाद राज्य की ही होती थी। रामचंद्र के एक लेख से ज्ञात होता है कि इस प्रकार की एक अनधिकृत संपत्ति को उसने सिंचाई, तालाबों की रक्षा और प्रबंध के लिये दान कर दिया था।[६५] राज्य का सबसे अंतिम कर वह होता था जिसे आकस्मिक विपत्तियों के आ जाने पर लगाया जाता था। इसकी व्यवस्था सोमदेव ने दी है[६६] तथा यादवों ने भी इस विधान से लाभ उठाया होगा।

यादव नृपतियों ने उपर्युक्त सरकारी आय को किस प्रकार किन किन क्षेत्रों में व्यय करने की व्यवस्था की थी, इस संबंध में उनके लेखों से कुछ ज्ञात नहीं होता। उस समय की भारतीय राजनीतिक परिस्थिति में, जब राज्यों में आपसी युद्ध सर्वदा छिड़े ही रहते थे, राज्य का एक बहुत बड़ा खर्च सेना और शासन पर होता रहा होगा। पर यहाँ यह न समझ लेना चाहिए कि उन्होंने अन्य प्रजाजन-कार्यों की अवहेलना की। प्रजा की भलाई के लिये उन दिनों जितने भी कार्य होते थे उनमें राज्य की अवश्य आंशिक अथवा पूर्ण सहायता होती थी। शुक्राचार्य ने, जिन्होंने यादव-काल के थोड़े ही दिनों पहले अपने नीतिग्रंथों की रचना की थी, यह व्यवस्था दी है कि राज्य की आय का ८½ प्रतिशत प्रजा की सुख-समृद्धि हेतु व्यय होना चाहिए। यादवों ने इस व्यवस्था का पूर्णतः पालन किया। रामचंद्र के मंत्री तिप्परस को 'खेतिहरों की सभा में सर्वप्रधान'[६७] की संज्ञा दी गई है। इसका कारण यह हो सकता है कि उसने खेती की दशा सुधारने का भरपूर प्रयत्न किया था। उसी लेख से यह भी ज्ञात होता है कि कुछ गाँवों की उत्तराधिकारी-हीन संपत्ति को उसने तालाबों के रक्षार्थ दे दिया जिससे सिंचाई का समुचित कार्य हो सके। यादव राजाओं ने शिक्षा की उन्नति के लिये भी कुछ

६४—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २१, पृष्ठ १८९

६५—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ११, देवनगेरी तालुका का ७० और ७०ब लेख।

६६—नीतिवाक्यामृत २१-१४, माणिक्यचंद्र जैन ग्रंथमाला, बंबई संवत् १९७९

६७—एपि० कर्ना०, जिल्द ११, देवनगेरी तालुका का लेख ७० और ७० ब

कम नहीं किया। अनेक लेखों[६८] से हमें यह ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य के पौत्र तथा लक्ष्मीधर के पुत्र चंगदेव सिंहण द्वितीय के मुख्य पंडित थे। उक्त पंडित ने आज के चालीसगाँव क्षेत्र में स्थित पाटन नामक स्थान में अपने पितामह भास्कराचार्य के विशिष्ट ग्रंथ 'सिद्धांत शिरोमणि' के अध्ययन के लिये एक मठ की स्थापना की। सिंहण द्वितीय ने उक्त संस्था के लिये स्वर्ण और भूमि का दान किया[६९] और शिक्षा की उन्नति में अपनी रुचि का प्रदर्शन किया। अन्य ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में यादवों के और प्रजाहित कार्यों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सकता; पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ऐसे अन्य कार्य भी उन्होंने किए होंगे।

न्यायदान की व्यवस्था—

प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति में न्यायदान की समुचित व्यवस्था थी। यादव राज्य ने भी इसकी ओर अवश्य ध्यान दिया होगा। इस क्षेत्र में हमारे ज्ञान का मुख्य स्रोत याज्ञवल्क्य स्मृति पर लिखी गई विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका है। यह कल्याण के चालुक्य नृपति विक्रमादित्य षष्ठ के समय में लिखी गई थी और अब भी भारतवर्ष के अधिकांश भागों में न्यायदान में प्रमाण मानी जाती है। यादवों के समय तक इसका पर्याप्त प्रचार अवश्य हो गया होगा। अतः इसके आधार पर हम न्याय-व्यवस्था का कुछ रूप खींच सकते हैं। मिताक्षरा टीका के अनुसार[७०] राजा का दरबार ही राज्य का सबसे बड़ा न्यायालय होता था। उसके साथ उसकी समिति के सदस्य भी होते थे। इसी प्रकार प्रांतों में प्रांतपतियों के न्यायालय थे और इस तरह न्यायालयों की एक सरणि सी बन गई थी। न्यायप्राप्ति बड़ी सुलभ थी। समसामयिक हयसाल शासन से हमें पता चलता है[७१] कि झगड़ों को निबटाने के लिये सबसे पहले कुलों अथवा जातियों के न्यायालय होते थे। उनसे ऊपर क्रमशः श्रेणी और पूगों के न्यायालय होते थे। पूगों से बड़े राज्य के अफसर होते

६८—रा० ए० सो० पत्रिका, जिल्द १ पृष्ठ ४१५ तथा एपि० इं०, जिल्द ३ पृष्ठ ११६

६९—वही।

७०—धा० ल० शास्त्री पणशीकर संपादित याज्ञवल्क्य स्मृति, मिताक्षरा टीका सहित, (बंबई) पृष्ठ १४२

७१—मैसूर विश्वविद्यालय की पत्रिका, जिल्द ३ भाग १, पृष्ठ ९७

थे।[७२] देवगिरि के यादव राज्य में भी न्यायालयों की इस प्रकार की सरणि होने की कल्पना की जा सकती है।

दंड की व्यवस्था के संबंध यह कहा जा सकता है कि अपराध का रूप देखकर उसके अनुसार हल्का या कठोर दंड दिया जाता होगा। दंडों में जुर्माने लेकर तथा डाँट फटकार कर छोड़ देने की प्रथा विशेष रूपेण प्रचलित प्रतीत होती है। उनकी ओर कहीं कहीं निर्देश भी है।[७३] दिव्य दंडों के दिए जाने का भी प्रमाण प्राप्त होता है। गोआ के कदंब नृपति जयकेशी तृतीय का एक लेख[७४] एक अपराधी को दिए हुए दिव्य दंड की ओर निर्देश करता है। देवगिरि के यादव नृपति सिंहण द्वितीय के भी १२४१ ई० वाले एक लेख से इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण उपस्थित होता है। उक्त लेख में एक वृत्ति के संबंध में दो मनुष्यों के बीच के झगड़े को दिव्य उपायों द्वारा निपटाया हुआ बताया गया है। एक ने अपनी सफाई में अपना सिर रस्सी से बाँधकर लटका लिया तथा दूसरे ने देवनिर्मित रखे हुए भोजन को खा लिया।[७५]

सैनिक और पुलिस शासन—

जिस काल में यादवों ने श्रीनगर और देवगिरि से शासन किया उसे शांति अथवा विभिन्न राज्यों में परस्पर सद्भाव का युग नहीं कहा जा सकता। दक्षिण भारत के राजनीतिक मानचित्र पर से ज्यों ही कल्याणी के चालुक्यों का हटना प्रारंभ होता है त्यों ही अनेक छोटे छोटे प्रतिस्पर्धी राज्य अपनी अपनी राजनीतिक सीमा बढ़ाने में व्यस्त हो जाते हैं। दक्षिण-पूर्व में काकतीयों ने, द्वारसमुद्र के हयसालों ने एवं मालवा, मध्यभारत और उड़ीसा के राज्यों ने अपनी अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया। उत्तर-पश्चिम में गुजरात के चालुक्य वंश की भी शक्ति बढ़ रही थी तथा सुदूर दक्षिण में चोलों और पांड्यों का बोलबाला था। इन सभी समस्याओं के बीच, प्राय: उपर्युक्त प्रत्येक राज्य की ओर अपनी सीमा को बढ़ाकर देवगिरि के यादवों ने अपने बृहद् राज्य की स्थापना की और अंत में वह

७२—वही।

७३—एपि० इं० जिल्द २३, पृष्ठ १८९

७४—बेलगाँव जिला गजेटियर, पृष्ठ ३६०

७५—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख १८७

अपने समय में दक्षिणी भारत का सर्वप्रमुख राज्य हो गया। इस बृहद् कार्य की सिद्धि के लिये उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति अवश्य ही पर्याप्त मात्रा में बढ़ाई होगी।

सैनिक शासन का सर्वप्रमुख अधिकारी राजा ही होता था। परंतु सेना का साधारण प्रबंध और संघटन मुख्य सेनापति के हाथ में होता था जिसे "महा-प्रचंडदंडनायक" कहते थे।[७६] यह राजसभा का सदस्य भी होता था[७७] तथा उसका प्रधान दफ्तर राजधानी में रहता था। प्रांतों में भी इसी प्रकार के अफसर और उनके दफ्तर रहते थे और उन्हें केंद्र की आज्ञा वहन करनी होती थी। यादव राजाओं के पार्श्ववर्ती राज्यों के विरुद्ध जो युद्ध होते थे उनमें प्रांतीय शासक—"मंडलेश्वरों"[७८] को जो अपनी सीमा में सैनिक शासन के भी प्रधान होते थे, लड़ना पड़ता था। वे सुयोग्य सैनिक होते थे जिन्हें "महाप्रधान" अथवा "दंडनायक" कहते थे।[७९] इनमें से जिनकी नियुक्ति राज्य की सीमा पर होती थी उनकी शक्ति और प्रतिष्ठा अधिक थी। प्रांत के सैनिक शासक "मंडलेश्वरों" के अधीन 'नायक" होते थे जो संभवतः जिलों के सैनिक अफसर थे।

सैनिक प्रबंध में भी सुविधा की दृष्टि से कई विभाग होते थे। यादव राजाओं ने अपनी रक्षा के लिये किलों की भरपूर व्यवस्था की थी। राजधानी देवगिरि चौरासी पर्वतदुर्गों के मध्य में बसी हुई बताई गई है।[८०] एक दूसरे लेख में यह कहा गया है कि सिंहण द्वितीय ने प्रत्येक प्रकार के पर्वत और जलदुर्गों को जीत लिया था।[८१] इन उद्धरणों से यह निश्चित हो जाता है कि यादव राजाओं ने युद्ध में विजय के लिये दुर्गों का पूरा पूरा महत्त्व समझा था तथा उनका पर्याप्त संख्या में निर्माण कराया था। आधुनिक दौलताबाद के किले के विशेष भाग का निर्माण इन्हीं राजाओं ने कराया था और वहाँ राजधानी बनाकर उसे युद्ध-सामग्री से सुसज्जित किया था। दुर्गों के अतिरिक्त यादवों की सेना भी

७६—इंडियन ऐंटीक्वेरी, जिल्द ११, पृष्ठ ११९ के बाद।

७७—वही।

७८—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख २८५

७९—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १३, पृष्ठ १९८; वही, जिल्द २१ पृष्ठ १८९; बंबई शाखा रा० ए० सो० की पत्रिका, जिल्द १२ पृष्ठ, ७ के बाद।

८०—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख १९१

८१—वही, लेख २०६

एक बड़ी संख्या में रही होगी। उन्होंने जिन समसामयिक शक्तियों पर विजय पाकर अपने राज्य की सीमा बढ़ाई, उनसे हम यादव सेना की महत्ता, रण-कुशलता तथा वीरता का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। उनका राज्य भी उस प्रदेश (महाराष्ट्र प्रांत) में पड़ता था जहाँ के लोग सर्वदा से रणप्रिय होते आए हैं। सूक्तिमुक्तावली के रचयिता कवि जल्हण के परिवार ने आनुवंशिक रूप से यादवों की हस्तिसेना का संचालन-भार सँभाला था।[८२] हाथियों को 'वधकर्म' अर्थात् शत्रु को चीर फेंकने की कला सिखाई जाती थी और हस्ति-चालकों के नायकों को 'गज-साहनी' कहते थे। सेना में घोड़ों की भी संख्या कम न थी। सिंहण द्वितीय ने ३०००० घोड़े अपनी सेना में रखे थे।[८३] यह संख्या कुछ अतिरंजित सी प्रतीत होती है, पर इतना तो निश्चित ही है कि यादव सेना में घोड़ों की संख्या बड़ी थी। भारतवर्ष में अच्छे घोड़ों की कमी होने के कारण ये मुख्यतया विदेशों, विशेषतः अरब से, मँगाए जाते थे।[८४]

सेना की भरती समाज के सभी वर्गों से होती थी, यद्यपि क्षत्रिय लोग इसमें अधिक सम्मिलित होते थे। ब्राह्मण वर्ण के लोग भी लड़ने का कार्य करते थे। सिंहण द्वितीय के दो सेनापति—खोलेश्वर तथा उसका पुत्र राम, जिन्होंने क्रमशः उसकी सेना का गुजरात के युद्ध में नेतृत्व किया था—मुद्गलगोत्रीय ब्राह्मण थे।[८५] यादव शक्ति की बहुत बड़ी वृद्धि सामंत-सेनाओं से भी हुई, जिनकी सहायता युद्ध के समय अपेक्षित थी।

भीतरी उपद्रव, सीमा पर के विद्रोह, गायों की चोरियाँ तथा धन के अपहरण यादव-काल की शांतिभंग के बहुत बड़े कारण थे। तत्कालीन दक्षिण-भारतीय प्रत्येक राज्य की प्रायः यही दशा थी और आए-दिन झगड़े हुआ ही करते थे। फलस्वरूप राज्य के भीतर शांतिस्थापन यादव शासन का एक मुख्य कार्य हो गया था। इस कार्य के लिये एक शक्तिशाली पुलिस सेना की आवश्यकता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि बाहरी उपद्रवकारियों का मुकाबला अधिकांश अवसरों पर जनता पुलिस और स्थानीय सेना की सहायता से करती थी। समसामयिक

८२—जल्हण रचित सूक्तिमुक्तावली की भूमिका (गायकवाड़ सीरीज)।

८३—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख २७५

८४—द राइज़ ऑफ मराठा पॉवर (?) ...

८५—आर्केऑलॉजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इंडिया, जिल्द ३, पृष्ठ ८५

सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि "ग्राम का पुलिस-प्रबंध ग्रामिक के निरीक्षण में रहता था। इस कार्य की मुख्य जिम्मेदारी प्रहरी पर होती थी और प्रत्येक अपराध, विशेषतः ग्राम में हुई चोरी का पता लगाना उसका कार्य था।"[८६] इस काल के थोड़े ही पूर्व उपर्युक्त पुलिस अफसरों को "चौरोद्धरणिक"[८७] एवं "दण्डपाशिक"[८८] कहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पुलिस के दल राज्य में सर्वदा गश्त लगाया करते थे और उस हेतु "राजसेवकानांवसति दंड" लगाया जाता था। यहाँ 'राजसेवक' का अर्थ 'शासन-कार्य में नियुक्त पुलिस अधिकारी' हो सकता है।

वैदेशिक नीति—

इस विषय पर प्रमुख प्राचीन भारतीय लेखक अर्थशास्त्र के निर्माता कौटिल्य हुए हैं। उन्होंने मौर्य साम्राज्य की वैदेशिक नीति को स्थिर करने के लिये अपने 'मंडल' सिद्धांत का विशद प्रतिपादन किया। परंतु यादवकालीन राज्यों को यह सिद्धांत मान्य था या नहीं, इस प्रश्न पर कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यादवों ने अपने राज्य को शक्तिशाली बनानेवाले तत्त्वों की ओर अवश्य ध्यान दिया। भिल्लम पंचम के मंत्री जैत्रसिंह को गडग लेख में[८९] मंत्र, उत्साह और शक्ति से युक्त बताया गया है। राज्य की प्रभुता बढ़ाने में इन तीन शक्तियों को प्राचीन भारत में बड़ा महत्त्व दिया गया था। पुनः कृष्ण के ममदपुर लेख[९०] में विद्या को इन तीन अभेद्य शक्तियों से संपन्न कहा गया है और राज्य की पाँच नीतियों[९१] को बरतने में भी कुशल बताया गया है। उसी लेख से यह भी ज्ञात होता है कि सेनापति चौंडराज साम, दान, दंड और भेद आदि नीतियों के प्रयोग में मानो चतुर्मुख ब्रह्मा ही थे। ये गुण राजाओं तथा उनके मंत्रियों में अत्यंत

८६—द राष्ट्रकूटज ऐंड देयर टाइम्स, पृष्ठ २५९

८७—बंबई शाखा की रा० ए० सो० की पत्रिका, जिल्द १६, पृष्ठ १०९

८८—द राष्ट्रकूटज ऐंड देयर टाइम्स, पृष्ठ २५९

८९—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ३, पृष्ठ २१७

९०—वही, जिल्द १९, पृष्ठ १९

९१—सहाया। साधनोपाया विभागो देशकालयोः।
विनिपातप्रतीकारः सिद्धिपञ्चाङ्गमिष्यते॥

कामन्दक नीति, १२-३६

प्राचीन काल से राज्य की शक्ति को बढ़ाने के लिये आवश्यक बताए गए हैं। कल्याणी के चालुक्य नृपति सोमदेव तृतीय ने, जो यादवों के थोड़े ही दिन पूर्व उत्पन्न हुए थे, "अभिलषितार्थचिन्तामणि" नामक पुस्तक की रचना की, जिसमें उन्होंने वैदेशिक नीति के सिद्धांतों पर पूरा प्रकाश डाला है। यह अत्यंत संभव है कि यादवों ने उन सिद्धांतों को कार्यरूप दिया हो, पर इस विषय में प्राप्त सामग्री से कुछ ज्ञात नहीं होता। इतना ही नहीं, उस सामग्री की समीक्षा से विदित होगा कि उनकी नीति बहुत व्यापक नहीं थी।

इस देश पर मुसलमानी आक्रमण आरंभ हो जाने के बाद यहाँ के राज्य एक एक करके पराजित होते गए, फलतः यहाँ मुसलमान शासन प्रारंभ हुआ। इसका एक बहुत बड़ा कारण यह था कि हिंदू राज्यों ने कोई स्पष्ट वैदेशिक नीति नहीं बरती। उनका दृष्टिकोण संकुचित था, फलतः शक्ति को क्षीण करनेवाला था। पुष्यभूति साम्राज्य के अंत हो जाने के बाद सारा भारतवर्ष छोटे छोटे राज्यों में विभक्त हो गया और इसकी राजनीतिक एकता नष्ट हो गई। राजाओं को यदि सबसे बड़ी चिंता कोई थी तो यह कि उनका राज्य बचा रहे। उन्होंने सभी प्रयत्न सीमित क्षेत्र में किए। किसी ने भारत की सीमाओं की रक्षा के हेतु कोई चिंता अथवा प्रयत्न नहीं किया। अतः उत्तर से आनेवाले आक्रमणकारी, देश के द्वार पर बिना किसी प्रतिरोध के ही भीतर काफी दूर तक घुस आते थे। सभी राजाओं की राज्यभक्ति सीमित होकर स्थानीय, आंशिक तथा संकुचित हो गई थी। उन्हें केवल अपने छोटे छोटे राज्यों की चिंता थी। देवगिरि का यादव राज्य भी इस नियम का अपवाद नहीं था। यादवों के किसी भी लेख से यह ज्ञात नहीं होता कि उन्होंने अपने पार्श्ववर्ती या उत्तर के राज्यों से दूत-संबंध रखा था। इसके सिवा यादवों के इतिहास के संबंध में प्राप्त सामग्री इस बात की ओर निर्देश करती है कि सिंहण द्वितीय के बाद प्रायः प्रत्येक राजा का यह प्रयत्न रहा कि अपनी वंशानुक्रमिक राज्य-सीमा के बाहर भी वह अपने राज्य को बढ़ाए। फल हुए युद्ध और पार्श्ववर्ती काकतियों, हयसालों, गुर्जरों और मालवों से वैर। उनकी सारी शक्ति युद्ध में खर्च हुई।

यादवों ने स्वयं अपने राज्य की सीमा की रक्षा का भी कोई विशेष प्रबंध नहीं किया था। मुसलमानी इतिहासकारों से हमें यह ज्ञात होता है कि अलाउद्दीन के दक्षिण आक्रमण के समय उसकी बढ़ती हुई सेना के एलिचपुर (जो उन्हीं के राज्य

में स्थित था) तक आ जाने का यादवों को पता ही नहीं था। इतना ही नहीं, उन्होंने उसके बाद भी आक्रमण को रोकने के लिये कोई तैयारी नहीं की। लज्जा की बात तो यह है कि राजकर्मचारियों को आक्रमण की सूचना भयभीत खेतिहरों ने दी।[१२] उनकी लापरवाही का और भी प्रमाण मिलता है जब हम देखते हैं कि राजा रामचंद्र (रामदेव) ने उस आक्रमण का प्रतिरोध राजधानी में, और वहाँ भी बहुत थोड़े से सिपाहियों के साथ किया। देवगिरि की रक्षा का कोई भी प्रबंध नहीं था और राज्य की सारी सेना शंकरदेव (रामदेव का पुत्र) के साथ तीर्थयात्रा को गई थी।[१३] जैसा कि मुसलमान लेखकों का कथन है, किले में खाद्य सामग्री का भी अभाव था। इन सबका फल यह हुआ कि भारतीय राजनीतिक आकाश में हिंदू वैभव के सूर्य की अंतिम किरणों को मुसलमानी आक्रमण के बढ़ते हुए अंधकार ने ढक लिया। स्वयं रामदेव भी इसमें सहायक हुआ और उसने द्वारसमुद्र और वारंगल पर किए गए मुसलमानी आक्रमणों में आक्रमणकारियों की मदद की। उपर्युक्त प्रमाण इस बात को सिद्ध करते हैं कि यादवों के पास कोई वैदेशिक नीति थी ही नहीं, और यदि थी भी तो वह अत्यंत शक्तिहीन और विवेक-रहित थी। इसकी सबसे बड़ी जिम्मेदारी रामचंद्र (रामदेव) को ही निभानी पड़ी, जिसमें वह पूर्णतः असफल रहा और फलतः अपने नाम के साथ एक दुःखद स्मृति छोड़ गया।

१२—किंकेड और पारसनीसकृत 'मराठों का इतिहास' (अंग्रेजी), जिल्द १, १९३० ई०, पृष्ठ ३७ के बाद।

१३—कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, जिल्द ३, पृष्ठ १६-१७

चयन

भारत का सांस्कृतिक संकट

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने गत २० नवंबर को काशी हिंदू विश्वविद्यालय के समावर्तन समारंभ के उपलक्ष्य में जो दीक्षांत भाषण दिया था उसके मुख्यांश का हिंदी रूपांतर यहाँ प्रस्तुत है—

हमारी संस्कृति पर आज एक नया संकट आ उपस्थित हुआ है। संसार के अन्य आधुनिक देशों की भाँति भारतवर्ष भी नगरों में पलनेवाली तथा उद्योगमूलक सभ्यता की अवस्था में से होकर गुजर रहा है, जिसमें जीवन की भयानक जकड़बंदी अनिवार्य हो गई है। विगत पचास वर्षों में अमेरिका ने इतनी उन्नति की कि उसका प्रभाव विश्वव्यापक हो गया है। रूस ने सोवियत साम्यवाद के अंतर्गत एक ऐसी शक्ति का विकास कर लिया है जो अपनी विप्लव तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने की क्षमता के कारण भयंकर है। इंगलैंड तथा पश्चिमी यूरप के अन्य देशों का विश्वप्रभाव अब नष्ट हो चुका है। एशिया, अफ्रिका और लटिन अमेरिका राजनीतिक आत्मनिर्णय और स्वातंत्र्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं। अस्तित्व के लिये पारस्परिक संघर्ष अत्यंत तीव्र हो गया है। परंपरागत प्रभावों को हेय समझकर आज उनका विरोध किया जा रहा है। विज्ञान की यथेष्ट और यथोचित उन्नति हो रही है, परंतु धर्म तथा प्राचीन साहित्य, कला आदि जो जीवन को दृढ़ता प्रदान करनेवाले तत्त्व हैं वे उपेक्षित हो रहे हैं। स्वभावतः नवीन और क्रांतिकारी विचार समस्त विश्व में फैल रहे हैं और उनकी उपेक्षा करना आत्मघात तुल्य होगा। प्रत्येक व्यक्ति एक नवीन स्वतंत्रता का दावा उपस्थित करने लगा है। स्त्री अब समाज के स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में उठ खड़ी हुई है। वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतंत्र किसी भी समय हमें घोर अव्यवस्था की स्थिति में डाल दे सकता है। सार्वतांत्रिक अधिनायकवाद निर्मम जकड़बंदी के द्वारा जीवन की संपूर्ण स्वतंत्रता को नष्ट कर देना चाहता है। इन सब कारणों से प्राचीन पद्धति के जीवन के लिये भारी भय उपस्थित हो गया है। ये सब बात मिलकर विश्व को, और भारत को भी, एक भिन्न प्रकार के साँचे में ढाल रही हैं। हम लोगों को, विशेषतः

हममें से जो लोग विश्वविद्यालयों में—जहाँ संस्कृति कसौटी पर कसी जाती है—काम करते हैं उनको, साहस के साथ इस सांस्कृतिक संकट का सामना करना है।

हमारे विश्वविद्यालय इस उत्तरदायित्व की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमने नैतिक और सामाजिक गुणों की शिक्षा की अब तक उपेक्षा की है। अब यही उपयुक्त समय है कि हम अपने विद्याभवनों में उनका अध्ययन करें और उन्हें अपने लक्ष्य के अनुकूल बनाएँ। जिन मौलिक गुणों के कारण भारतीय संस्कृति महान् और अमर बनी है उनके प्रकाश में अब हमें अपने पूर्व बल को पुनः प्राप्त करना चाहिए और अपने ढीले पड़ते हुए सामाजिक जीवन के ढाँचे को पुनः सुदृढ़ बनाना चाहिए।

* * *

आधुनिक परिस्थितियों में चातुर्वर्ण्य ने अपनी शक्ति और अर्थ को खो दिया है। वंशगुण की बिलकुल उपेक्षा न की जाय, तो भी अब वह किसी व्यक्ति की उन्नति में बाधक नहीं बन सकता। भावी संसार में प्रत्येक मनुष्य को उन्नति का समान अवसर देना ही होगा। लोकतंत्रात्मक संस्थाओं की न तो हम उपेक्षा ही कर सकते हैं और न उनके बिना हमारा काम ही चल सकता है। परंतु यदि हमें अपने राष्ट्रीय जीवन को स्थायी बनाना है तो अपने सामाजिक भवन का निर्माण हमें समयानुरूप नवीन शक्ति तथा दृढ़ता के साथ करना होगा।

* * *

हमारी संस्कृति के सारभूत गुणों में से एक गुण रहा है हमारा असीम बौद्धिक साहस, जो प्रतिरोध-काल में (ई० १००० से १६५८) कुचल उठा था। परंतु आधुनिक जागरण-काल में (ई० १६५८ से १९४७) विचार और विद्या ने नवीन शक्ति प्राप्त की है। फिर भी उच्च कोटि की बौद्धिक विचारशक्ति को अभी वह बल नहीं प्राप्त हुआ है। दुःख की बात तो यह है कि बहुत से लोग जिन्हें इस विषय में और अच्छा ज्ञान होना चाहिए था, उच्च शिक्षा को भी केवल विलास की वस्तु समझते हैं। मैं जानता हूँ कि यह अवस्था अल्पकालिक है, परंतु यदि विश्वविद्यालयों में हम लोग उक्त प्रकार के विचार के मूल में छिपे हुए खतरे को नहीं पहचानते, तो हमारा विनाश ही समझिए।

* * *

हाल में ही मैंने कहीं पढ़ा था कि आधुनिक मनुष्य 'आर्थिक' मनुष्य है, परंतु शिक्षा यदि केवल 'यंत्रवत्' मनुष्य का निर्माण करती और उसे 'आर्थिक'

मनुष्य कहती है, 'मनुष्य' को भूलकर केवल उसके 'आर्थिक' विशेषण पर जोर देती है, तो निश्चय ही वह बुरी तरह अपने लक्ष्य से च्युत हो जाती है। विश्वविद्यालय और चाहे जिन विषयों के अध्ययन में विशेषता प्राप्त करें, परंतु वे शिक्षा के सांस्कृतिक पक्षों की उपेक्षा नहीं कर सकते। विज्ञान केवल साधन है, साध्य नहीं; परंतु संस्कृति स्वयं साध्य है। किसी इंजीनियर के जीवन का लक्ष्य केवल पुल आदि का निर्माण करना नहीं हो सकता। उसके लिये एक सुयोग्य पति, सहृदय पिता, मित्रवत् व्यवहार करनेवाला पड़ोसी, कर्तव्यनिष्ठ नागरिक तथा अपने आत्मा के प्रति सच्चा मनुष्य बनना भी आवश्यक है। उसके मार्ग में विपत्ति और बाधाएँ आएँगी, जिससे कभी कभी उसका धैर्य छूट जायगा। ऐसे अवसरों पर उसे जिस बल और साहस की आवश्यकता होगी वह केवल सच्ची संस्कृति से ही प्राप्त हो सकता है।

* * *

हमारी संस्कृति के इष्ट गुणों में एक गुण, बौद्धिक और कलात्मक दोनों प्रकार की उन्नति के लिये, शब्द ब्रह्म की प्रधानता रहा है। इसी गुण के कारण संस्कृत को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ। अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण वह चिरकाल तक हमारी राष्ट्रभाषा रही। उसमें हमारी संस्कृति की निधि संचित हुई। उसने देश में एकात्मता स्थापित की और उसी ने हमें अपने जीवन और समाज को पुनःसंघटित करने के लिये शक्ति प्रदान की। परंतु हमारी राष्ट्रीय उन्नति और दृढ़ता का प्रधान साधन हिंदी ही है। यदि हिंदी को अपने कर्तव्य का पूरा पूरा पालन करना है तो उसे न केवल संस्कृत के सौंदर्य और लचीलेपन तथा प्रांतीय भाषाओं के सुलभ साधनों को अपनाना पड़ेगा, अपितु अंग्रेजी की संपन्नता और सजीवता भी अर्जित करनी होगी। उसे सच्चे अर्थ में 'भारती' बनना होगा—केवल राजभाषा या सरकारी भाषा नहीं, बल्कि तत्त्वतः और रूपतः भारत की भाषा, जैसे अंग्रेजों की भाषा अंग्रेजी और फ्रांसवालों की फ्रेंच है। परंतु उसको वह शक्ति और मर्यादा प्राप्त हो, इसके लिये हमारे विश्वविद्यालयों को कठोर परिश्रम करना होगा और उसके विकास के विषय में केवल उदार राष्ट्रीय भावना ही नहीं अपनानी होगी, वरन् अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि रखकर काम करना होगा।

हमारे विश्वविद्यालयों को साहित्य-प्रेम को भी प्रोत्साहन देना चाहिए। हमारा यह महान् देश दूसरों से उधार लिए हुए अथवा परंपरा से प्राप्त सौंदर्य पर ही संतोष नहीं कर सकता। हमें ऐसे महान् साहित्य की सृष्टि करनी है जिसमें न केवल

कालिदास का सौंदर्य हो, अपितु एस्किलीज की शक्ति भी हो; जिसमें न केवल चंडीदास और मीरा का गीतिमाधुर्य हो, अपितु सैफो की भावप्रवणता, शेली का अपार्थिव सौकुमार्य तथा गेटे का मोहक आकर्षण भी हो; जिसमें न केवल महाभारत के वर्णन की सचित्रता तथा मानव अनुभूतियों की तीव्रता हो, अपितु ड्यूमा की जीवित कहानी कला, विक्टर ह्यूगो का सप्राण आदर्शवाद तथा शेक्सपियर की शक्ति और व्यापकता भी हो। हमें भूलना नहीं चाहिए कि हमारे भारतीय साहित्य का बहुत बड़ा भाग एक रूढ़िबद्ध साँचे में ढला हुआ है। यदि हमें महान् साहित्य का निर्माण करना है तो उससे हमें अपने को मुक्त करना होगा। हमें अपने जीवन में ऐसे सौंदर्य और आनंद की खोज करनी होगी जिसमें पूर्णता भी हो और विविधता भी। सौंदर्य या आनंद के लिये कोई राष्ट्रीय सीमा नहीं बँधी हुई है। जीवन का अनंत वैभव हमारे सामने है। उसको हमें अपने साहित्य के भीतर ले आना होगा।

* * *

हमारे विश्वविद्यालयों को भारत की अमर संस्कृति के मूल तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिए—प्राचीन रूढ़ियों को पुनर्जीवित करने की संकीर्ण भावना से नहीं, बल्कि जीवित तत्त्वों के पुनस्संघटन के उद्देश्य से। हमारे देश में ऋत अर्थात् नैतिक व्यवस्था के विश्वव्यापक नियम का पता पहले पहल लगा था और उसकी व्याख्या की गई थी। उसको प्रेरक शक्ति के रूप में पाकर हमने केवल सांसारिक वैभव तथा असाध्य नैतिक शक्ति ही नहीं प्राप्त की, अपितु उस रहस्य का भी पता लगा लिया जिसके द्वारा मनुष्य अपनी दुर्बलताओं पर विजय पाकर देवत्व प्राप्त कर लेता है। ये सफलताएँ भारत ने आध्यात्मिक क्षेत्र में प्राप्त की थीं और हमारी वर्तमान स्वतंत्रता और शक्ति उन्हीं का परिणाम है—यदि प्रत्यक्ष रूप से उनका परिणाम नहीं तो कम से कम जिन अद्भुत उपायों के द्वारा यह प्राप्त हुई है उनका उद्गम वे ही आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं जिनकी साधना तथा जिनके अनुकूल आचरण द्वारा बड़े बड़े महापुरुषों ने आत्मपूर्णता प्राप्त की है। समस्त विश्व भविष्य की समस्याओं के लिये हमपर भरोसा करता तथा हमें आदर की दृष्टि से देखता है। इसका कारण न तो हमारी सैनिक शक्ति है, जो कि अत्यल्प है, और न हमारे देश की विशाल जनसंख्या, जो एक बाधास्वरूप है; बल्कि इसका कारण यह है कि रामकृष्ण, दयानंद, विवेकानंद, मालवीय जी और गाँधी जी ने

हमारे प्राचीन सिद्धांतों की सत्यता आधुनिक विश्व के सामने पुनः प्रमाणित कर दी है।

* * *

आपको अपने व्यक्तित्व का विकास जीवन के मध्य से होकर करना चाहिए, उससे दूर रहकर नहीं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आततायी शत्रुओं के साथ भयंकर युद्ध करने का आदेश दिया था, उन्होंने उन्हें किसी निर्जन वन अथवा एकांत गुफा में जा बैठने की सलाह नहीं दी थी। *तस्मात् युद्धस्व भारत* ये शब्द किसी सांसारिक श्रम तथा संघर्ष से भागनेवाले कायर के प्रति नहीं कहे गए थे। *आत्मन्येवात्मना तुष्ट* होकर आप दृढ़ता के साथ अपने बल पर खड़े हों। अपने हृदय को महान् आदर्शों और उदात्त कर्मों की भावना से पूरित कर लें। अपने काम, क्रोध, द्वेषादि दोषों और दुर्बलताओं को दूर कर अपने वैयक्तिक बल का संग्रह करें। इससे आपके जीवन में उस महान् शक्ति और सौंदर्य का प्रवेश होगा जिसकी आपको अपेक्षा है, और आप जीवन का सर्वश्रेष्ठ आनंद प्राप्त कर सकेंगे, जिसका उपयोग एक महान् लक्ष्य की सिद्धि के लिये होगा। परंतु यह रहस्य हमें जीवन में किस प्रकार प्राप्त होगा? यह तो तभी संभव है जब हममें यह विश्वास हो कि प्रत्येक रूप में सौंदर्य की उपासना ही संसार की सबसे सारवान् वस्तु है, कोई भी वस्तु उससे बढ़कर न तो जीवन के प्रति अक्षय उत्साह प्रदान कर सकती और न आत्मपूर्णता की भावना हृदय में ला सकती है। यदि मैं प्लेटो के इस अमर सूत्र—'मनुष्य की देवत्व की ओर प्रगति'—का अपनी दृष्टि से अर्थ करूँ तो जहाँ तक मैं समझता हूँ, उसका केवल अर्थ होगा 'विभिन्न रूपों में सौंदर्य का प्रगतिशील चिंतन तथा उसकी अनुभूति'; प्रगतिशील—सुंदर रूपों से सुंदर जीवन की ओर, सुंदर जीवन से सुंदर विचारों की ओर और सुंदर विचारों से निरपेक्ष सौंदर्य की ओर। हमें चाहिए कि हम अपनी संस्कृति के मूल तत्त्वों का अध्ययन करें और उनके मूल्य को समझें। हम उन्हें अपनी वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल बनाएँ परंतु उनके निरपेक्ष स्वरूप को भूल न जायँ, जिसे हम इन शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं—मनुष्य का मनुष्य के रूप में सम्मान; मानव स्वत्वों की मूल सिद्धांत रूप वह सुव्यवस्था जो व्यष्टि तथा समष्टि जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन सदाचार के नियमों के पालन द्वारा प्राप्त होती है; पूर्ण मानव व्यक्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचने के लिये निरंतर प्रयत्न, जिससे उस परम आनंद की प्राप्ति हो जो केवल निरपेक्ष सौंदर्य के चिंतन से ही प्राप्त हो सकता है।

बस, केवल यही उपाय है जिसके द्वारा हमारे विश्वविद्यालय हमारी संस्कृति पर आए हुए संकट का सामना करने में समर्थ हो सकते हैं।

हिंदी की परंपरा

गत ८ नवंबर को बंबई हिंदी विद्यापीठ के पदवीदान समारंभ के अवसर पर डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने जो दीक्षांत भाषण दिया था उसका मुख्यांश यहाँ अविकल उद्धृत है—

आज हम अनिश्चितता की कुहेलिका में नहीं हैं। जो अपरिहार्य और अवश्यंभावी था, उसे हमारे राष्ट्र-परिचालकों ने मान लिया है। हर्ष है कि अब आगे से भाषा के विषय में समस्त विवाद, विचार, वितंडा, तर्कजाल भारतीय जनता को और विभ्रांत नहीं कर सकेंगे। निखिल भारत की राष्ट्रभाषा के स्थान पर हिंदी प्रतिष्ठित हो गई है। जिस ओर प्रकृति की गति थी, वहाँ रुकावट की आकांक्षा और चेष्टा व्यर्थ हो गई है। आदर्श की प्रतिष्ठा हो गई है एवं आदर्श-विपर्यय के डर से हम मुक्त हो गए हैं। अब हिंदी-हिंदुस्तानी वाली लड़ाई मिट गई है। पर समस्या का अंत नहीं हुआ। जीवन तो रणांगणों की समष्टि है। नई समस्याएँ हमारे दृष्टि-पथ पर हाजिर हो गई हैं। इन्हें भी हल करना हमारा महान् कर्तव्य होगा।

राष्ट्र-परिचालकों ने इस समय हिंदी को जो मर्यादा दी है, वह उसके अपने अधिकार की स्वीकृति ही है। यह मर्यादा बहुत पहले ही हिंदी को मिलनी चाहिए थी।

हिंदी का आधुनिक महत्त्व केवल इन दिनों के प्रचार का फल नहीं है। हिंदी की आंतःप्रादेशिकता कुछ ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारणों का फल है। इस समय हिंदी जिनके द्वारा अपनी शिक्षा तथा बाहरी जीवन के क्षेत्रों में व्यवहृत की जाती है उनकी संख्या कोई १४ करोड़ से कम नहीं होगी। भारतवर्ष में इन १४ करोड़ मनुष्यों को लेकर इस विशाल देश का "हिंदी संसार" बना है। पर यह भी विचारणीय है कि इन १४ करोड़ों में ५ करोड़ से अधिक लोग हिंदी को अपनी मातृभाषा के रूप में घरेलू बोली के तौर पर नहीं बोलते। अधिक से अधिक ५ करोड़ मनुष्य उन पछाहीं हिंदी बोलियों को जिन्हें शास्त्रिक दृष्टि से हम बोलते हैं और जो कि हिंदी की जड़ हैं, मातृभाषा के रूप में बोलते हैं—जैसे दिल्ली की खड़ी बोली, मेरठ रोहिलखंड आदि स्थानों की "जानपद हिंदी", बाँगरू या जाट

या हरियानी और ब्रजभाषा, कनौजी और बुंदेली। इन सभों के लिये, हिंदी अपने पितृपुरुषों से प्राप्त रिक्थ (Heritage) है। इनके अतिरिक्त हिंदी संसार के अवशिष्ट नौ करोड़ लोग घर में और भाषाएँ बोलते हैं—जैसे पंजाबी, गढ़वाली, कुमाऊनी, विभिन्न राजस्थानी बोलियाँ तथा मालवी, कोसली या पूर्वी हिंदी, भोजपुरी, सदानी या छोटानागपुरिया, मगही और मैथिली; परंतु हिंदी को इन्होंने अपनाया है, हिंदी के सिवा इस समय इनका ध्यान और दूसरी किसी भाषा या बोली पर नहीं है। हम जो कि "हिंदी संसार" के साथ अंतरंग नहीं बने, पर हिंदी से जिनका संयोग और साहचर्य घनिष्ठ रूप से है, अर्थात गुजराती, मराठी, ओड़िया, बंगला, असमी आदि स्वतंत्र भाषाओं के बोलनेवाले, हमारे लिये ऐसी परिस्थिति कुछ आश्चर्यजनक लगती है। पर ऐसी बात पृथ्वी में कोई नई या असाधारण वस्तु नहीं है। भाषा मुख्यतः संस्कृति का प्रकाशक्षेत्र है। सांस्कृतिक संयोग या प्रभाव के कारण पड़ोस की भाषा का असर अक्सर किसी भाषा पर आ पड़ता है, खास करके जहाँ के शिक्षित लोग अपनी मातृभाषा के संबंध में उदासीन रहते हैं, या एक या एकाधिक ऐतिहासिक कारणों से जहाँ के जनसमाज के परिचालक-स्वरूप उच्चवंश के मनुष्य अपनी खास प्रांतिक जनता की भाषा छोड़कर और किसी नजदीक की भाषा की ओर आकृष्ट होते हैं। ऐसे हिंदी के दो रूप ब्रजभाषा और खड़ी बोली का गहरा प्रभाव पंजाब तथा राजस्थान एवं कोसल की बोलियों पर और बिहार प्रांत की बोलियों पर आ गया है। यहाँ तक कि इन सब जगहों के लोगों ने हिंदी को साग्रह भाव से अपना लिया है। यह सांप्रतिक इतिहास है। अस्तु, इतिहास जो हो सो हो; पर बात यह है कि पंजाबी (कुछ सिख पंडितों की बात छोड़कर), राजस्थानी, कोसली, गढ़वाली, कुमाऊनी, "हिंदी भाषा" बोलते हैं, और पछाहीं हिंदी बोलनेवालों से भी ज्यादा जोश के साथ हिंदी की सेवा में आत्मनियोजित हुए हैं। यह तो सच ही है कि हिंदी के प्रसार के लिये भोजपुरी, मैथिल, मगही और कोसली बोलनेवालों ने, राजस्थानी और पंजाबी बोलनेवालों ने, जो अनमोल काम किया है, वह आधुनिक भारत के इतिहास में एक बड़ी भारी लक्षणीय वस्तु है।

हिंदी संसार के अलावा अर्थात् जैसा मैंने थोड़ा ही पहले कहा है, पछाहीं हिंदी वालों और उनके साथ साथ हिंदी को अपनाए हुए लोगों के अलावा भारत के "आर्य-संसार" या आर्यभाषी जनों की संख्या १२ करोड़ होगी; "हिंदी संसार" के १४ करोड़ और गैर-हिंदी आर्यभाषियों के १२ करोड़, समूचे में २६ करोड़

मनुष्यों में हिंदी भाषा किसी न किसी प्रकार से चालू है। "हिंदी संसार" के बाहर के आर्यभाषी लोगों की स्वाभाविक और सहज आंतःप्रादेशिक भाषा हिंदी ही है। भारत के २६ करोड़ आर्यभाषियों में, जो जनसंख्या के ७३ प्रतिशत होते हैं, हिंदी की प्रतिष्ठा है। संख्या के विचार से हिंदी पृथ्वी की तीसरी भाषा है—उत्तरी चीनी और अंग्रेजी इन दोनों के बाद हिंदी का स्थान है। हिंदी के पीछे हमें इन भाषाओं को मानना पड़ेगा—रूसी, जर्मन, जापानी, हिस्पानी, बंगला, फ्रांसीसी। पर संस्कृति की दृष्टि से फ्रांसीसी की जो मर्यादा है, वह आधुनिक जगत् में न रूसी की है, न चीनी की, न हिंदी की। पर इसे संस्कृतिवाहिनी आधुनिक भाषाओं में एक मुख्य भाषा बनाने की जिम्मेवारी हम भारतीयों की ही है, क्योंकि यह भाषा अपनी संख्या और अपने खास वैशिष्ट्य के कारण आधुनिक भारत की प्रतिस्थानीय भाषा (Representative Language) बनी है। इसे अपने बहुल प्रचार के कारण तथा सहज बोधगम्यता के कारण हम "समानाषु प्रथमा" (Prima Interpares) मानते हैं। हिंदी भारतीय जनता के कल्याण के लिये एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उत्तर-भारत की बात छोड़ दीजिए; द्रविड़भाषी दक्षिण की आम जनता के कुछ लोग शहरों में अंग्रेजी बोल लेते हैं, यह सच है, परंतु उत्तर-भारत की आधुनिक भाषाओं में यदि कोई भी भाषा सबसे अधिक लोगों की समझ में आती हो तो वह हिंदी ही है। निखिल भारतीय जनों के तीर्थस्थान जो बने हैं ऐसे मंदिर या क्षेत्र, जैसे बालाजी, मदुरा, श्रीरंगम, सेतुबंध रामेश्वर, कन्याकुमारी, तिरुवंतपुरम, मैसूर श्रवण बेलगोला इत्यादि, इन स्थानों में हिंदी बोलनेवाले पंडे, दूकानदार, व्यापारी, होटलवाले आदि बहुत से मिलेंगे। भारत के दूसरे अनार्यभाषी लोगों में भी हिंदी का ही प्रचार दिखाई देता है।

अपने देश से प्रेम रखनेवाले, जो भारतीय राष्ट्र को एक और अखंड मानते हैं, वे अवश्य स्वीकार करेंगे कि हमारे सांस्कृतिक, व्यापारिक तथा राष्ट्रीय एके के लिये हिंदी भाषा एक बड़ा भारी कार्यकर साधन है, यहाँ तक कि इस "खंड, छिन्न विच्छिन्न" देश में मैं संस्कृत के बाद हिंदी ही को ईश्वर का आशीर्वाद स्वरूप मानता हूँ। एक बार सोचकर देखिए तो भला। हमारे इस विराट् विशाल देश में, जो अपने आयतन में रूस देश को छोड़ सारे यूरोप खंड के समान है और जहाँ एक दर्जन से अधिक बड़ी बड़ी भाषाएँ चालू हैं, विरोधी मनोवृत्ति के और भारत के विपक्ष जनों के कथन के अनुसार जहाँ कई सौ भाषाएँ और उपभाषाएँ चालू हैं—वहाँ हिंदी ही के द्वारा हमें भाषासंकट से छुटकारा मिल गया है। केवल तीन मीलों

के इंग्लिश चैनल के सागर का व्यवधान डोवर और काले बंदरगाहों के अंतर है, पर अंग्रेज जब इंगलैंड से फ्रांस आता है, तब दुस्तर भाषा-संकट में गिर जाता है। फिर कई मीलों के बाद फ्लिमश भाषी पच्छिमी बेलजियम मिलता है—और इधर जर्मनी, जहाँ की भाषा फ्रांसीसी से अलग है। जिसे अच्छी तरह से तीन चार भाषाओं से परिचय न हो उसके लिये यूरोप की सैर में बड़ी ही दिक्कत होती है। पर हमारे भारत में विशेषतः उत्तर भारत में, भाषा की चिंता हममें नहीं होती। कोई बंगाली बंबई आवे, या कोई सिंधी, गुजराती या महाराष्ट्रीय असम देश तक जावे, वह कभी भी भाषा के संबंध में सोचता ही नहीं। टूटी-फूटी बाजारू हिंदी के सहारे हम इधर काश्मीर और पेशावर, नेपाल और सिकिम से गोवा और हैदराबाद तक और उधर असम के पूर्वतम अंश में प्रतिष्ठित ब्रह्मकुंड तीर्थ से पेशावर तक दिग्विजय कर फिरते हैं। *अखिल भारतीय राष्ट्रीय एकता की एक मुख्य निशानी हमारी हिंदी भाषा है।* इस बात को हमारे देश के लोगों ने निःशब्द भाव से मान लिया है कि जो केवल अपनी प्रांतिक भाषा जानता है वह प्रादेशिक और सीमित रह जाता है और जिसका हिंदी से परिचय है वह सचमुच निखिल भारतीय बन जाता है।

हिंदी के इस सर्वजन स्वीकृत अखिल भारतव्यापी प्रभाव का ऐतिहासिक कारण क्या है, उसके संबंध में दो शब्द आप लोगों के सामने पेश करूँगा।

हिंदी का अपना देश है—आधुनिक पूर्वी पंजाब और पश्चिमी संयुक्तप्रांत। इस स्थान का प्राचीन नाम है "मध्यदेश"। कुरुपंचाल राष्ट्र, कुरुक्षेत्रमंडल—यह तो इस मध्यदेश का ही एक मुख्य अंश है। ईसा के जन्म के पूर्व की पहली सहस्राब्दी के प्रारंभ में मध्यदेश आर्यभाषामय भारत का केंद्र था। इसके पूर्व में थे "प्राच्य" या पूरब के देश—कोसल या अवध, काशी या भोजपुर प्रदेश और मगध अर्थात् मगही भाषा का प्रांत; पश्चिम और उत्तर में था "उदीच्य" देश—मद्र या उत्तर पंजाब, केकय और गंधार या पश्चिम पंजाब; और दक्षिण में थी राजपूताने की मरुभूमि। इस मध्यदेश को जो भारतीय आर्य तथा आर्यपूर्व द्रविड़, निषाद और किरात जातियों के सांस्कृतिक मिश्रण का केंद्र था, हम हिंदू ब्राह्मण्य सभ्यता का भी केंद्र या जन्मभूमि कह सकते हैं। इसी प्रांत में ईसा के जन्म के पूर्व लगभग दशमी शती में मिश्र आर्यानार्य संस्कृति ने अपनी विशिष्ट मूर्ति प्राप्त की थी। इसलिये इस देश का एक खास महत्व सभों ने मान लिया है। इसी

स्थान पर महर्षि वेदव्यास ने ब्राह्मणों के मुँह से सुने गए चार वेद संहिताओं का संग्रह किया था, और आर्य तथा (भाषा के विषय में आर्यीकृत अनार्य) द्रविड़ निषाद किरात, इन अनार्यों की पुरानी कहानी का संग्रंथन करना शुरू किया था। इसी जगह पर श्रीकृष्ण वासुदेव ने अपनी शिक्षा का प्रचार किया था, जिसमें हिंदू चिंताधाराओं का एक महान् समन्वय हमारे नजर आता है और जो शिक्षा मुख्यतः गीता में ही उपलब्ध होती है। "निगम" अर्थात् वेद और "आगम" अर्थात् वेदबाह्य तंत्रादि शास्त्र, जिन दोनों की उपासना-रीति अलग-अलग थी—वेदमार्ग में अग्नि द्वारा हवन करके और देवताओं के उद्देश्य से पशुओं के मांस मेदादि की आहुति दी जाती थी और तंत्र या आगमिक मार्ग की पूजा-रीति में देवता की मूर्ति या दूसरे प्रतीक पर फूल-पत्ते, पानी, चावल (अक्षत), खाद्य मिठाई (नैवेद्य) आदि चढ़ाए जाते थे—इन दोनों को एक साथ मिला देने की सार्थक चेष्टा कृष्ण वासुदेव ने ही की थी। भारतीय सभ्यता ने आर्यों के आगमन के बाद वेद-पुराण और गीता को लेकर, मध्यदेश ही में अपनी खास विशिष्टता प्राप्त की थी। मध्यदेश की संस्कृति अखिल आर्य प्रांतों की एकमात्र संस्कृति बनी और यहाँ के चिंता-नेताओं की विद्वत्ता, लोक परिचालन शक्ति प्रभृति गुणों के कारण यहाँ के लोगों की भाषा सभी आर्यभाषियों के लिये एक प्रामाणिक भाषा मानी गई।

केंद्रीय स्थान की भाषा होने के कारण दूर दूर प्रांतों के लोग इसे ही समझ सकते थे, पर इनमें एक प्रांत के लोग सुदूर प्रांतों की बोली समझने में कठिनाई अनुभव करते थे। पश्चिम पंजाब या महाराष्ट्र के आर्यभाषी लोग पूरब के बिहार प्रांत के आर्यभाषी की बोली को दुर्बोधगम्य समझते हैं और वैसा अतीत में भी समझते थे। पर बीच की बोली होने के कारण, मध्यदेश की बोली सब कोई सदी-ब-सदी और पीढ़ी-दर-पीढ़ी अच्छी रीति से प्रयुक्त करते आए हैं और करते भी हैं। इस प्रकार भारतीय सभ्यता के इतिहास के प्राथमिक या प्रारंभिक युग में, इस मध्यदेश में प्रचलित संस्कृत भाषा ही हमारी सभ्यता या संस्कृति का अनमोल प्रकाशक्षेत्र या माध्यम बनी। पंजाब और मध्यदेश से यह नवीन हिंदू सभ्यता जब समग्र उत्तर भारत पर फैली, तब से संस्कृत भाषा इसका माध्यम या वाहन बनी। हिंदू सभ्यता का वाहन और साथ ही साथ इसका प्रतीक बनकर, यह संस्कृत भाषा समग्र भारतभूमि पर फैल गई और साथ ही साथ मध्यदेश की यह भाषा यथासंभव सब लोगों से अपनाई गई। पिछले काल में संस्कृत परिवर्तित होकर प्राकृत और अपभ्रंश में रूपांतरित हो गई। परंतु मध्यदेश की प्राकृत, जो

संस्कृत का ही परिवर्तित रूप थी, संस्कृत की ही राह पर चली। बुद्धदेव के समय में अर्थात् ईसा के पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के मध्य भाग में, संस्कृत जब (खास करके प्राच्यदेश या पूरब में) कुछ पुरानी और अप्रचलित होनेवाली हो गई, तब लोकभाषा प्राकृतों के पक्ष में बौद्ध और जैन धर्मनेताओं ने जनता में प्रवृत्ति ला दी। इसका यह फल हुआ कि आम लोगों में चालू मौखिक या घरेलू बोलियों में साहित्य-सर्जना का आरंभ हुआ। यों जैनों में और बौद्धों में अपने अपने धर्म-संस्थापकों के उपदेश की भाषा पूर्वी प्राकृत में एक एक उच्चकोटि का दर्शन और विचारमूलक साहित्य बन गया। ऐसे महावीर स्वामी की जीवन-कथा और उनके उपदेशों के आधार पर जो लोकभाषामय नया साहित्य बना, भविष्यकाल में कुछ परिवर्तित होकर वह हमारे सामने अंत में जैन अर्धमागधी साहित्य के रूप में विद्यमान है। यह जैन अर्धमागधी महावीर स्वामी के समय की पूरब की भाषा का उत्तरकालीन कुछ कुछ परिवर्तित निदर्शन है। बुद्धदेव ने तो साफ साफ कह दिया था कि अपने उपदेश लोग अपनी अपनी खास भाषाओं या बोलियों में सुनें। उनकी शिक्षा पहले पहल मगध की बोली में ही दी गई थी, शिक्षापदों का पहला संग्रह इसी प्राच्य या पूरब की मागधी भाषा में हुआ था। पर तुरंत बुद्ध-वचनों के विभिन्न अनुवाद विभिन्न प्रांतिक भाषाओं में होने लगे। निदान यह हुआ कि मूल बुद्धोपदेश, जो कि मागधी में सबसे पहले लिपिबद्ध हुआ था, अब इस समय संपूर्णतया अवलुप्त हो गया है। पर इसके अस्तित्व के कुछ प्रमाण हमें मिलते हैं—इधर अशोक की धर्मलिपि से दो चार वाक्य मिल गए हैं। उधर दूसरी प्राचीन शिलालिपियों से कुछ शब्द और वाक्य, और पालि में उपलब्ध बौद्ध ग्रंथों में कहीं कहीं पालि के अंतराल में उसके पहले की पूर्व प्राकृत में लिखे गए मूल-स्वरूप बौद्ध शास्त्र की भाषा के कुछ शब्द रूप और दूसरे चिह्नावशेष मिले हैं—बस। हमें अब पता चला है कि प्राचीन भारत में बुद्धवचन के कम से कम तीन अनुवाद बने थे—एक पालि में, दूसरा बौद्ध संस्कृत में और तीसरा उदीच्य या उत्तर-पश्चिम भारत में प्रचलित प्राकृत में। इन तीनों के अतिरिक्त प्राच्य भाषा में लिखा हुआ मूल बुद्धवचन या बौद्ध शास्त्र तो था ही। उदीच्य की बोली में लिखी गई बुद्ध-वचन की पुस्तकें न केवल आजकल के पंजाब, कश्मीर और सीमांत प्रदेश में चालू थीं, पर उन प्रांतों से ये सब मध्य एशिया में भी फैल गई थीं, जहाँ उदीच्य के लोग भारतवर्ष से आर्य संस्कृति तथा भाषा लेकर कुस्तन (या खोतन) आदि नगर बनाकर बस गए थे। मध्य एशिया के खँडहरों में से इस उदीच्य प्राकृत में लिखे हुए

बौद्ध शास्त्रग्रंथों के कुछ अंश हमें मिल गए हैं, उनसे इस लुप्त साहित्य की खबर हमें मिली है। संस्कृत में अनुवाद किए बौद्ध शास्त्रों का बहुत कुछ अंश नेपाल के बौद्धों ने बड़े ही यत्न के साथ संरक्षित किया है, वह हमें प्राप्त हुआ है। पालि भाषा में जो अनुवाद हुआ था वह सिंहल के बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा अब तक सुरक्षित होकर चला आया है। सिंहल से, हीनयान मत के बौद्धों के शास्त्र के रूप में यह पालि अनुवाद बर्मा, कंबोज और श्याम में लाया गया, वहाँ के भिक्षुओं में यह पालि शास्त्र अब भी जीवित है। हीनयान मत के थेरवाद या स्थविरवाद संप्रदाय के बौद्ध लोगों ने भारतवर्ष में ही इस पालि अनुवाद को बनाया था—कब, और कहाँ, इसका स्थिर निश्चय अब तक नहीं हुआ। पर जहाँ तक हमें पता चला है, हमारा विचार यह है कि यह अनुवाद, मध्यदेश की प्राकृत भाषा जहाँ चालू थी ऐसे किसी प्रांत में या मध्यदेश की प्राकृत के बोलनेवाले बौद्ध गुरुओं के द्वारा प्रस्तुत किया गया था। महाराज अशोक के पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा का जन्म मालव देश के एक प्रधान नगर विदिशा में हुआ था, उनकी माँ देवी नाम की सेठ घर की बेटी अशोक से ब्याही गई थी, जिस समय राजकुमार अशोक अपने पिता मौर्य सम्राट् बिंदुसार अमित्रघात के प्रतिनिधि बनकर मालव सूबे का शासन करते थे। बचपन में ये दो राजघराने के भाई-बहन विदिशा में ही पालित हुए थे, और वहाँ की बोली, जो मध्यदेश की ही प्राकृत थी, इनकी अपनी भाषा बनी। अपने पिता अशोक की घरेलू बोली उनसे दूर रहने के कारण इनकी बोली नहीं हो सकी। बुद्धवचन इन्होंने इसी मध्यदेश की भाषा में ही पढ़े, और जब उत्तरकाल में अशोक ने धर्मप्रचार के लिये अपनी पुत्री और पुत्र को लंका द्वीप को भेजा, तब ये जो बौद्ध शास्त्र साथ लाए वह मध्यदेशीय प्राकृत ही में लिखा हुआ था। पिछले समय उसका नाम बना 'पालि'। पर सिंहल के भिक्षु लोगों का उत्तर भारत की भाषाविषयक हालत से कुछ भी परिचय नहीं था। वे जानते थे कि बुद्धदेव मगध के थे, प्रांतिक मागधी प्राकृत में उपदेश किया करते थे; और मगध के मौर्य सम्राट् के द्वारा प्रेषित होकर मगध से ही शास्त्र लेकर राजघराने के प्रचारक आए, तो उनके लाए हुए शास्त्र की भाषा मागधी के सिवा और क्या हो सकती थी? यों गलती से सिंहल के पालिशास्त्र की भाषा का "मागधी" नाम हुआ। पर प्राकृत भाषातत्त्व की एक साधारण बात यह है कि पालि का मेल-जोल उस मागधी प्राकृत से बिलकुल नहीं है जिस मागधी प्राकृत का व्याकरण तथा कुछ निदर्शन हमें मिले हैं। इसका सादृश्य

पुरानी शौरसेनी प्राकृत ही से है। अतः हम कह सकते हैं कि बौद्ध साहित्य की एक प्रौढ़ भाषा पालि मध्यदेश की प्राकृत शौरसेनी के प्राचीन रूप पर आधारित है। संस्कृत नाटकों से यह पता हमें चलता है कि ईसा के आसपास की शतियों में जितनी प्राकृत या आर्य लोकभाषाएँ उत्तर भारत में चालू थीं, उनमें शौरसेनी प्राकृत, याने मध्यदेश के अंतर्गत शूरसेन या व्रजमंडल की प्राकृत सब प्राकृतों में सबसे उन्नत, शिष्ट और भद्र मानी जाती थी। जहाँ नाटकों के पात्रों को अपने आभिजात्य के कारण संस्कृत ही में बोलना चाहिए था, पर नारी या शिशु होने के कारण संस्कृत जिनसे बोली नहीं जाती थी, वे सहज रूप से शौरसेनी प्राकृत ही बोलते थे। ऐसे ही जब प्राकृत परिवर्तित होकर अपभ्रंश की अवस्था में आ पहुँची, तब भी हम देखते हैं कि और सब प्रांतिक अपभ्रंशों का, शौरसेनी या मध्यदेशीय अपभ्रंश के सामने, कोई भी मर्यादापूर्ण स्थान नहीं था। ईस्वी लगभग ८०० से शुरू कर १२००-१३०० तक, शौरसेनी अपभ्रंश भाषा, जो "नागर" अपभ्रंश भी कहलाने लगी, उत्तरभारत के लिये एक विराट् साहित्यिक भाषा के रूप में विराजती थी। संस्कृत के बाद इस शौरसेनी अपभ्रंश का ही स्थान उस समय था। विभिन्न प्रांतीय अपभ्रंश भाषाएँ थीं तो सही, पर इनमें साहित्य सर्जना मानो नहीं होने के बराबर ही थी। चार छः सौ वर्षों तक उधर सिंधु प्रदेश से पूरब बंगाल तक, और कश्मीर, नेपाल, मिथिला से लेकर महाराष्ट्र, उड़ीसा तक तमाम आर्यावर्ती देश इस शौरसेनी या नागर अपभ्रंश साहित्यिक भाषा का क्षेत्र बन गया था। राजपूत राजाओं का प्रभाव इसका एक कारण हो सकता है। पर मेरी राय में, इससे उत्तर भारत का एक साधारण भाषासाम्य या भाषाविषयक सहज-बोध्यता भी प्रमाणित होती है। शौरसेनी अपभ्रंश में सिंध, महाराष्ट्र, पंजाब, कश्मीर, बिहार, बंगाल तक के कवियों के पद और दूसरी कविताएँ मिली हैं। साथ साथ किसी किसी प्रांत में प्रांतीय भाषाओं की उपज के समय इनमें भी स्थानीय कवि लोग रचना करते थे, जैसे बंगाल में, मिथिला में। पछाहीं खंड जो कि शुद्ध हिंदी का अपना देश है, और राजस्थान, गुजरात, ये सब प्रांत तो शौरसेनी अपभ्रंश की निजी भूमि थी। इसमें कोई भी संदेह नहीं है कि लगभग १००० ईस्वी शती में, किसी उत्तर भारतीय आर्यभाषी का यदि देशाटन करना और साथ साथ साधारण जनों से तथा शिष्ट जनों से मिलना होता तो संस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी अपभ्रंश के सिवा उसका काम ही नहीं चलता। यह तो सच है कि शौरसेनी अपभ्रंश उन दिनों की आंतःप्रादेशिक भाषा ही थी

और क्योंकि आजकल की व्रजभाषा, खड़ी बोली आदि विभिन्न प्रकार की हिंदी का उद्भव इस शौरसेनी अपभ्रंश से ही हुआ है, हमें यह कहना होगा कि अब की न्याई एक हजार बरस पहले हिंदी ही अपने पूर्व रूप में आंतःप्रादेशिक भाषा के रूप में अखिल उत्तर भारत भर में फैली थी और तमाम आर्यभाषी संसार में पढ़ी, पढ़ाई और लिखी जाती थी।

ऐसे हमारी आँखों के सामने स्पष्ट प्रतिभात होता है कि मध्यदेश की ही भाषा सिलसिलेवार विभिन्न युगों में भारत की मुख्य राष्ट्रिक तथा सांस्कृतिक एवं एकमात्र आन्तःप्रादेशिक भाषा (संस्कृत के बाद, यह तो मानना ही है) बनकर चली आई है। इसका सांप्रतिक इतिहास और भी स्पष्ट है, यद्यपि बीच बीच की कुछ बातें हमारे लिये व्यासकूट या संशयमय बन रही हैं। विदेशी तुर्क लोगों ने मुसलमान धर्म लेकर जब भारत पर चढ़ाई की, और ये लोग हिंदू भारतीयों को लड़ाई में हराकर उत्तर भारत के राजा बने, तब उत्तर-भारतीय आधुनिक भाषाएँ अपने अपने सूतिकागार में थीं। पंडितों में शिष्ट भाषा, ज्ञान-विज्ञान, आंतःप्रादेशिक काम-काज की भाषा संस्कृत तो थी, पर जनता में शौरसेनी अपभ्रंश का ही प्रचलन था। पर शौरसेनी अपभ्रंश, मौखिक चालू बोलियों के मुकाबिले, कुछ प्राचीन भावग्रस्त थी। फिर, मुसलमान राज कायम होने का पहला फल यह हुआ कि राजपूत हिंदू राजाओं की सभाओं में अपभ्रंश लेखक और कवियों को जो पृष्ठपोषकता मिलती थी, तुर्क मुसलमान सुलतानों के दर्बारों में वह खतम हो गई। इधर लोकभाषाओं के प्रकट होने का समय आया। मुसलमान राज की पहली दो शती तक नवीन लोकभाषाएं बच्चों की न्याई पदस्खलन करती हुई आगे बढ़ीं। हिंदू जनता और हिंदू राजा लोगों को इन नवीन लोकभाषाओं ने अपने अधीन कर लिया। अपभ्रंश को अब ज्यादातर जैन संस्थाओं के पंडित साधु लोगों के पास आश्रय मिला। पर अपभ्रंश के दिन लद चुके थे। पंजाबी (पश्चिमी और पूर्वी), सिंधी, मारवाड़ी—गुजराती, ब्रजभाषा, कोसली (या बैसवाड़ी), मैथिल, बँगला, ओड़िया, असमी, मराठी—ये सब बोलचाल में अपने अपने स्थानों में प्रतिष्ठित हुईं और इनमें कुछ भाषाओं के लिये कवि लोग भी सचेत हुए, अपनी मातृभाषा समझ इन्हें भी प्रीतिभरी दृष्टि के साथ देखने लगे। जैसे हमारे बंगदेश के अज्ञातनामा कवि ने, जो कि सिर्फ "बंगाल कवि" नाम से परिचित हैं, ईस्वी १२०० वर्ष के पहले ही अपनी मातृभाषा के संबंध में ऐसा लिखा था। "सदुक्तिकर्णामृत" नाम की श्लोकसंग्रह पुस्तक में, जो

कि १२०५ ईस्वी के आसपास बंगाल के अंतिम हिंदू राजा लक्ष्मणसेन की सभा में उपस्थित पंडित और अमात्य श्रीधर दास द्वारा बनाई गई थी, यह कविता आ गई है—

> घन रसमयी गभीरा वक्रिम सुभगोपजीविता कविभिः।
> अवगाढ़ा च पुनीता — गंगा बंगाल वाणी च॥

[गंगा तथा बंगवाणी, इन दोनों में अवगाहन करने से ये मनुष्य को पवित्र कर देती हैं, गंगा प्रचुर जलमयी हैं, बंगभाषा नाना काव्य रस से भरी है; गंगा गहरी नदी है, बंगभाषा अर्थ या भावगभीरा है; गंगा नदी टेढ़ी बाँकी रीति से प्रवाहित्ता है, सुंदर है और कवियों के द्वारा वर्णित है; और बंगला भाषा में बाँकेपन या सावलील सौंदर्य है, यह भाषा सुंदर है, बहुत से कवि लोगों ने इसमें लिखा है और अब भी लिखते हैं।]

कबीर दास ने भी अपनी भाषा के विषय में वैसे लिखा है—

> कबिरा संस्कृत कूपजल, भाषा बहता नीर।
> जब चाहिए तब डूबिए सीतल होय सरीर॥

बंगला, मैथिल, ओड़िया, कोसली, ब्रजभाषा तथा प्राचीन राजस्थानी-गुजराती और मराठी को साहित्यिक मर्यादा मिली। पर अपभ्रंश का पुराना स्थान रातोंरात नहीं मिटने का था। अखिल भारत पर उसका प्रभाव चलता ही रहा। पर धीरे धीरे अपभ्रंश की वारिस बनी मध्यदेश की दो भाषाएँ—आगरा मथुरा और ग्वालियर की ब्रजभाषा, और दिल्ली की खड़ी बोली। बैसवाड़ी या कोसली को भी एक महत्वपूर्ण स्थान मिला, जो भाषा मध्य देश संपर्कित अयोध्या में चालू थी। मध्ययुग के उत्तर भारत के साहित्यिक इतिहास में ब्रजभाषा का स्थान सबको विदित है। ऐसा जँचता है कि अपनी बेटी ब्रजभाषा में शौरसेना अपभ्रंश को नवीन कलेवर मिला, नए आयुकाल को उसने प्राप्त कर लिया। उधर बंगाल से लेकर महाराष्ट्र और पश्चिम पंजाब तक, ब्रजभाषा कविता संगीत और राधाकृष्ण विषयक वैष्णव शास्त्रग्रंथों की भाषा बनी। बंगाल के कवियों को लिखी हुई ब्रजभाषा कविता मिली है, जैसे शौरसेनी अपभ्रंश की। कवि भूषण ने अपनी ओजोमयी ब्रजभाषा में महाराष्ट्र-कुलभूषण हिंदूतिलक श्रीशिवराज की जो प्रशस्ति रची, वह शिवाजी महाराज के लिये उद्दीपनामय अनुप्राणना बनी। मराठी पोवाड़ा या युद्धगीत-लेखक लोग भी कभी कभी

ब्रजभाषा या दूसरी मध्यदेशीय भाषा व्यवहार करते थे। सिक्ख गुरुओं के धर्मोपदेश की भाषा तो अपनी जड़ से ब्रज और खड़ी बोली ही है—पंजाबीपन इसमें जो दिखाई देता है वह केवल स्थानीय भाषा के असर या प्रभाव के तौर पर। दिल्ली में और उसके बाद अकबर बादशाह के समय में आगरे में जब मुसलमान सल्तनत की राजधानी प्रतिष्ठित हुई और आखिर जब दिल्ली फिर पायतख्त बनी, तब ब्रजभाषा और दिल्ली की बोली, हिंदी के ये दो रूप उत्तर भारत में पुनः सुप्रतिष्ठित हुए। उधर ईस्वी पंद्रहवीं शती में संत कबीरदास की रचनाओं में दिल्ली की खड़ी बोली को स्थान मिला, कभी शुद्ध रूप में, कभी ब्रजभाषा से मिले-जुले रूप में। दक्षिण भारत में हिंदी की ही एक शाखा ईस्वी चौदहवीं शती से प्रतिष्ठित हुई और इसके सहारे दक्षिण में "दकनी" भाषा और साहित्य की नींव सोलहवीं शती में डाली गई, जिस दकनी के प्रभाव के कारण दिल्ली में अठारहवीं शती के मध्य भाग में, "मुसलमानी हिंदी" या उर्दू की प्रतिष्ठा हुई। फिर कलकत्ता में हिंदी और उर्दू इन दोनों ने आधुनिक उत्तर भारत के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अपने स्थान जमा लिए और हिंदी का साहित्यिक प्रसार होने लगा। धीरे धीरे पछाँह के बाहर पंजाब, पूरब, राजस्थान, मालवा, बिहार, मध्यप्रदेश इन सब प्रांतों में एक विराट् "हिंदीसंसार" शिक्षा के विस्तार के साथ ही साथ ईस्वी उन्नीसवीं शती के द्वितीयार्ध से तैयार होने लगा। हिंदी अब अपने प्रसार के कारण मध्यदेश की भाषा के गौरवमय इतिहास को नए तौर पर उत्तराधिकारी बनी—मध्य देश का प्राचीन गौरव और उस स्थान को आधुनिक भाषा की संख्या-भूयिष्ठता, ये दोनों एकत्र घट गए। अखिल भारत की अखंडता के संबंध में हमारे राजनीतिक तथा सांस्कृतिक नेता लोग बड़े जोश के साथ सोचने लगे, खास करके बंगाल के कुछ प्रख्यात चिंता-नेता। उन्होंने हिंदी को और भी अखिल भारतीय ऐक्य के संगठन की दृष्टि से देखा, और भारत के आयंदा युग के इतिहास में हिंदी के स्थान और हिंदी के द्वारा होनेवाली एकता बढ़ने की संभावना पर इन्होंने दूरदृष्टि संपन्न भविष्यवादी की नजर से देखा। यों ईस्वी १८५७ सन् में बंगाल में केशवचंद्र सेन ने अपने समाचार-पत्र में 'हिंदी ही अखिल भारत की जातीय भाषा या राष्ट्रभाषा बनने के योग्य है,' इस विषय पर निबंध लिखा। १८८२ में राजनारायण बोस ने और १८८६ में भूदेव मुखुर्ज्या ने भी भारत को एक जातीयता के सूत्र में बाँधने के लिये हिंदी की उपयोगिता के विषय पर विचार-समुज्ज्वल वकालतो की। १९०५ सन् से जब बंगाल में बंगभंग के बाद स्वदेशी

आंदोलन का आरंभ हुआ, जिसके साथ हमारे स्वाधीनता-संग्राम की नींव डाली गई, उस समय कालीप्रसन्न काव्य-विशारद जैसे कुछ बंगाली नेताओं ने हिंदी के पक्ष में प्रयत्न किया कि हिंदी के सहारे जनता में राष्ट्रीय-स्वाधीनता के लिये आकांक्षा फैल जाय। फिर १९२० के बाद, गांधी जी राष्ट्र-संग्राम के क्षेत्र पर अवतीर्ण हुए, और फौरन भारत के राष्ट्रीय और आंत:प्रादेशिक जीवन में हिंदी को उन्होंने अपना यथायोग्य स्थान दिया। कुछ वर्षों तक हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी मामले के कारण देश में आदर्श-विपर्यय आ गया, बहुत से लोग विभ्रांत हो गए अब अंत में यह आवर्त शांत हो गया है, हिंदी अपने अधिकार से "समानासु प्रथमा" मानी गई है। इस सांप्रतिक इतिहास के दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

ऐसे भारत में आर्य भाषा के इतिहास की पर्यालोचना करते हुए, हम देखते हैं कि हिंदी कम से कम तीन हजार वर्षों की एक धारा, एक सिलसिले के अंत में आई है—यह प्रवाह या परंपरागत वस्तु है, अचानक आकर सामने खड़ी हुई कोई चीज नहीं है। मध्यदेश की भाषा-परंपरा में इसी धारा के अनुसार हिंदी को आन्त:प्रादेशिकता की मर्यादा मिली है—(१) संस्कृत, (२) प्राचीन शौरसेनी, जिसका एक साहित्यिक रूप है पालि, (३) शौरसेनी प्राकृत (४) शौरसेनी अपभ्रंश तथा उसी का रूप नागर 'अपभ्रंश' (५) राजस्थान की पिंगल भाषा तथा पुरानी ब्रजभाषा (६) मध्यकालीन ब्रज-भाषा, ब्रजभाषा-खड़ी बोली मिश्र शैली (७) दकनी (८) दिल्ली की खड़ी बोली (९) आधुनिक नागरी हिंदी और उसका मुसलमानी रूप उर्दू, जिसको अपनी स्वाभाविक गति मिलेगी—"सागरे मिलावत सागर लहरी समाना"। शुद्ध हिंदी के सागर में इस मुसलमानी हिंदी याने उर्दू की लहर मिट जायगी।

यह तो हिंदी का बाहरी इतिहास है। भारत के गौरव के साथ ही साथ यह इतिहास और भी गौरवमय बनेगा। हिंदी भारत के दो तिहाई से अधिक लोगों में किसी न किसी रूप में चालू है और समग्र भारतीय जनता के लिये हिंदी गृहीत होनेवाली है। आंतर्जातीय राष्ट्रनीति के क्षेत्र में भारत का महत्त्व बढ़ता जाता है, साथ-साथ भारत की राष्ट्रभाषा का भी महत्त्व बढ़ेगा। विश्वराष्ट्र-संघ में इस समय पृथ्वी की जो श्रेष्ठ भाषाएँ मानी गई हैं वे पाँच हैं—अंग्रेजी, फ्रांसीसी, हिस्पानी, रूसी और चीनी। साथ साथ हिंदी को स्थान मिलना चाहिए और

हमारा विश्वास है, मिलेगा ही। परंतु इस दायित्वपूर्ण परिस्थिति के लिये हमें तैयार रहना चाहिए।

सम्मेलन के सभापति का भाषण

अ० भा० हिंदी साहित्य सम्मेलन के हैदराबाद अधिवेशन (२४–२७ दिसंबर, १९४९) के सभापति पं० चंद्रबली पांडे के भाषण का सार-अंश यहाँ उद्धृत है—

राष्ट्रचेतना

प्रश्न उठता है कि जो हम हिंदी को राष्ट्रभाषा कहते हैं उसका रहस्य क्या है। क्या हम उसे प्रजावर्ग की भाषा मानते हैं? हमारी धारणा है कि हमारी स्थिति यही है। हम हिंदी को यदि केवल राजभाषा मानते हैं, तो यह हमारी भूल है। ऐसा कहते या करते समय हमारे सामने केवल राजनीति आती है। राजनीति की दृष्टि से हमारी एकता कैसी और कितने दिन की होगी, इसे हम नहीं कह सकते, पर जिस कारण से जैसी एकता आज तक इस महादेश में बनी रही है, उसे हम छोड़ भी नहीं सकते। किसी और की क्या कहें? कभी पाकिस्तान के मंत्रद्रष्टा स्वयं अल्लामा इकबाल ने बड़े अभिमान से लिखा था—

मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना,
हिंदी हैं हम वतन है हिंदोस्ताँ हमारा।
यूनान मिस्र रोमा सब मिट गए जहाँ से,
अब तक मगर है बाकी नाम वो निशाँ हमारा।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमाँ हमारा।

किंतु उनको कदाचित् उस बात का पता जीवन के अंतिम क्षण तक न चला जिसके कारण यूनान, मिस्र और रोम के मिट जाने पर भी आज हम बने हैं और खड़े खड़े आज भी काल को चुनौती दे रहे हैं। कारण प्रत्यक्ष है। इकबाल को अपनी संस्कृति का बोध कितना था। जो परंपरा से प्राप्त था वह भी तो पढ़-लिख जाने से परास्त हो गया। वृद्धावस्था में तो उन्होंने बड़े अभिमान से लिखा—

अजमी खुम है तो क्या! मय तो हेजाजी है मेरी।
नगमए हिंदी है तो क्या! लय तो हेजाजी है मेरी॥

कहा जा सकता है कि इकबाल ने इस प्रकार ईरान, हेजाज और हिंद को एक कर दिया। हो सकता है, पर इसका परिणाम स्वयं हिंद में क्या हुआ? क्या यह भी कहने की बात है? स्मरण रहे, कभी इकबाल का छंद था—

वहदत की लय सुनी थी दुनिया ने जिस मकाँ से,
मीरे अरब को आई ठंडी हवा जहाँ से,
मेरा वतन वही है मेरा वतन वही है।

अस्तु, इकबाल की शिक्षा-दीक्षा पर यदि अंगरेजी धारा का कु-प्रभाव न पड़ता तो आज की स्थिति ही कुछ और होती और होता हमारा इकबाल भी कुछ और ही। परंतु अब करना क्या चाहिए जिससे हमारा कोई इकबाल न बिगड़े और बचपन में ही वह झट देख ले कि 'वह बात' कौन सी है, जो 'हमारी हस्ती' को आज भी अडिग बनाए हुए है। सो एक वाक्य में हम व्यास की वाणी में कह सकते हैं—

आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साऽजरामरा।

और यह जाति आचार्यशिष्टा है, इसमें संदेह नहीं। पर जिस कुशिक्षा के कारण इकबाल हमसे इतनी दूर निकल गए उसी कुशिक्षा के कारण हम भी अपनों से इतनी दूर पड़ गए कि 'संविधान' में हमारा राष्ट्र भी अपने अंक से वंचित हो गया, और हमारा दर्शन कुछ बाबुओं की सुविधा के लिये मारा गया। पर स्मरण रहे इकबाल की यह धुन –

मेरा वतन वही है मेरा वतन वही है।

और जहाँ आज यह 'तराना' सुनाया जा रहा है वहीं कहीं कभी बाबा आदम भी अपनी फेरी लगाते रहे होंगे। कारण यह कि हिंदी कवि उसमान का कहना है—

पंथिन्ह मिलि पुनि गा सैलाना, बाबा आदम कर अस्थाना।

कुछ भी हो, इतना तो मानना ही होगा कि इस प्रसिद्धि में कुछ सार है, और अरब तथा भारत का यह लगाव बहुत पुराना है। कभी उदार दारा का ध्यान इस ओर गया भी था और उसने इस विषय पर कुछ लिखा भी था, किंतु वह औरंगजेब के हाथ में पड़ा तो उसको उसके प्रतिकूल बहुत बड़ा मसाला मिल गया, और दारा अपनी इस सूझ-बूझ के कारण तलवार के घाट उतरा। किंतु अब वह समय आ गया है जब उसकी स्थापना पर फिर से विचार किया जाय और कुरान

तथा उपनिषद् की विचार-धारा को साथ साथ समझा जाय। इकबाल को यही काम करना था, पर उनसे हो गया कुछ और ही।

भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति एक है और एक ही रहेगी भी, राज्य चाहे जितने और संप्रदाय चाहे कितने ही हों।

कहा जा सकता है कि गत सहस्र वर्षों से जो मुसलिम धारा इस देश में बह रही है और गत दो सौ वर्ष से जो फिरंगी धारा अपना प्रभुत्व दिखा रही है उसका भी तो कुछ ध्यान होना चाहिए। निवेदन है कि हमने उसकी उपेक्षा कब की, जो यह प्रश्न उठाया जा रहा है? बाहर से जो आ मिला, हमारा हो गया। पर जो मिलने से डरा अलग हो गया। अरब, तुर्क और ईरानी इस देश में आए और यहीं बस गए। फलतः हमारी संस्कृति उनसे वासित हो गई। उनकी वास संस्कृति के प्रभाव से हममें भी आई। 'होइ फुलायल तेल' के न्याय से हमारी प्रीति भी कुछ और हो गई। प्रेम और भक्ति को कुछ और ही रूप मिल गया। किंतु तो भी उतना गहरा प्रभाव न पड़ा जितना कि फिरंग का। फिरंगी रहे तो हमसे दूर, पर दूर से ही लक्ष्य बनाया हमारे हृदय को। परिणाम यह हुआ कि हमारी संस्कृति उनसे भावित हो गई। हम पुरातन के अंध पक्षपाती नहीं हैं पर हमें सनातन की चिंता अवश्य है। कहा भी गया है—

> अनृतेन भवेत्सत्यं सत्येनैवाऽनृतं भवेत्।
> यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा॥

अतएव सनातन को परख भी कोई खेल नहीं, परंतु इतना तो अवश्य है कि उसकी परख भी उसी को हो सकती है जो वर्तमान का दास नहीं अतीत का ज्ञाता है और साथ ही है भविष्य का द्रष्टा भी। भूत तथा भाव्य से ही शाश्वत की परख होती है, कुछ वर्तमान के परिक्रमण से नहीं। इसी से तो यह सिद्धांत ठहराया गया है—

> नोद्दारेण हि सर्वोतः शिश्नोदरपरायणः।
> जात्यन्ध इव पन्थानमावृतात्मा न बुध्यते॥

और इस 'आवृतात्मा' का संस्करण ही तो संस्कृति है। यदि आत्मा के अनुकूल सजन न हुआ तो हम उसे संस्कार वा संस्कृति कैसे कह सकते हैं? वह तो

निश्चय ही विकार या विकृति है, हमें इस विकृति से बचना चाहिए और अपनी आत्मा तथा संस्कृति को समझ कर ही आगे बढ़ना चाहिए। 'आप' जानते हैं कि 'आप' शब्द 'आत्मा' का रूपांतर है और इसी 'आप' में आप की सारी संस्कृति बसी है। कवि कहता है—

आपु आपु कहँ सब भलो अपने कहँ कोइ कोइ।
तुलसी सब कहँ जो भलो, सुकवि सराहिहि सोइ॥

किंतु उलटे कहा यह जाता है कि भारतीय संस्कृति तो व्यक्तिप्रधान है। भरत नाम का एक राजा हुआ और समस्त देश का नाम हो गया भारतवर्ष। ठीक है। पर यही तो समझने की बात है? क्या किसी दशा में यह संभव है कि जिस देश में सभी लोग अपने आपको ही सब कुछ समझते हों और अपने आप के लिये ही सब कुछ करते हों उसी देश में कोई दूसरा जीव ऐसा उठा ही नहीं कि अपने देश का नाम बदल कर कुछ और ही रख दे और इस प्रकार अपना नाम सर्वत्र चालू कर दे! नहीं, नहीं, ऐसा सोचना भूल है। हमारी संस्कृति व्यक्तिप्रधान नहीं, प्रतीकप्रधान है; और जब प्रतीक के रूप में किसी प्राणी को ग्रहण कर लेती है तब फिर चुनाव का प्रश्न ही नहीं रह जाता। नाम बदलना हमारा काम नहीं, नाम जगाना हमारा धर्म है। कहते हैं, दुष्यंत का लड़का भरत था। उसी के नाम पर इस देश का नाम भारत हो गया। है यही बात। किंतु देखना तो यह चाहिए कि ऐसा क्यों हो गया? क्या यह किसी 'शासन' का परिणाम है? नहीं, इस 'भरत' के विषय में भगवान् मारीच की मत्यवाणी है—

रथेनानुद्धातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः; पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।
इहायं सत्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः; पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्॥

अस्तु, भारतीय संस्कृति की परख है सत्व का दमन और लोक का भरण। तुलसीदास का भी यही कहना है—

बिस्व भरन पोषन कर जोई, ताकर नाम भरत अस होई।

बात यह है जीव की सहज प्रवृत्ति होती है 'सर्वदमन' की, और संस्कार द्वारा उसको शिक्षा मिलती है लोकभरण की। भारत ने किस प्रकार 'हिंसा' को 'अहिंसा' के अधीन कर लोक का कल्याण किया, इसका जीता-जागता प्रमाण अशोक का नाम ही है। अशोक-स्तंभ का जो सिंह आज हमारी आंखों के सामने है, और

राजमुद्रा पर विराजमान है, वह किसी को हिंसा में रत नहीं। वह भी आज मौन भाव से प्रियदर्शी अशोक का उपदेश दे रहा है। सर्वदमन बाल-भाव से उसी सिंह का दाँत देख रहा था और वह सिंह भी उससे हिल-मिल कर खेल रहा था। दोनों ही एक दूसरे से धन्य हो रहे थे। तभी तो मारीच ने कहा कि इसकी इस लीला को देखकर विस्मित न हों। यही आगे चलकर लोक का भरण करेगा। कारण, इसमें 'सर्वदमन' की शक्ति जो है! सर्वदमन की स्थिति की प्राप्ति के बिना सर्वभरण का स्वप्न देखना व्यर्थ है। इस 'भरत' का निर्माण ही 'अभिज्ञानशाकुंतल' में इष्ट है और 'इष्टि' भी होती है इसीलिये। क्या कालिदास के पाठकों से यह भी बताना होगा कि 'अभिज्ञान' का पता चला था धीवर के द्वारा? आज आवश्यकता है इस बात की कि हम इस 'शक्रावतारतीर्थवासी' धीवर को समझें और अभिज्ञान के उस 'राष्ट्रिय' को भी न भूलें जिसने अंत में उससे कहा था—

तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः

भारतीय संस्कृति का मूल-स्रोत क्या है, और उसके 'अभिज्ञान' में किसी 'राष्ट्रिय' का महत्त्व क्या है, इसकी एक झलक मिल गई। अच्छा होगा, यदि यहीं 'राष्ट्रपति' का भी साक्षात्कार कर लें। धर्मराज युधिष्ठिर के विषय में कहा गया है—

तमालतालाम्रमधूकनीपकदम्बसर्जार्जुनकर्णिकारैः।
तापात्यये पुष्पधरैरुपेतं महावनं राष्ट्रपतिर्ददर्श॥

'भारत' की भारती में 'राष्ट्रपति' का जो रूप आपके सामने आया है उसी को दृष्टि में रखकर इतना और जान लें कि हमारे राष्ट्रपति का धर्म है—

भूसंस्कारं राजसंस्कारयोगमभैक्ष्यचर्यां पालनं च प्रजानाम्।
विद्याद्राजा सर्वभूतानुकंपी देहत्यागं चाहवे धर्मनयमम्॥

भाव यह कि हमारी संस्कृति 'भू-संस्कार' को भी समेट कर चलती है और हमारा 'धर्मव्याध' भी किसी द्विज को यही उपदेश देता है—

संस्कृतस्य च दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः।
प्राज्ञस्याऽनन्तरा वृत्तिरिहलोके परत्र च॥

और हमारी संस्कृति 'वृत्ति' को ही प्रधानता देती है 'वित्त' को नहीं। इसे हम हिंदी के अनेक मुसलमान कवियों में भी देख सकते हैं और भली भाँति समझ

सकते हैं कि आज मार्ग या 'मजहब' अलग होने पर भी संस्कृति कैसे एक हो सकती है। सो खानों के खान, तलवार के धनी नवाब अब्दुर्रहीम का कहना है—

नैन तृप्त कछु होत है, निरखि जगत की भाँति।
जाहि-ताहि मैं पाइयत, आदि रूप की कांति॥
उत्तम जाति बराम्हनी देखत चित्त लुभाय।
परम पाप पल में हरत, परसत वाके पाय।
परजापति परमेसरी, गंगा रूप समान।
जाके अंग-तरंग में करत नैन अस्नान॥

'आदि रूप' को लेकर प्रथम दोहे में जो बात कही गई है वह किसी भी मुसलिम हृदय में सरलता से उतर सकती है, पर शेष दो दोहों की बात हिंदी मुसलमान ही समझ सकता है।

साथ ही 'तुरकिन' के रूप का भी दर्शन करें तो जाति-भेद का रहस्य खुले। तुरुक रहीम कहते हैं—

चतुर चपल कोमल विमल पग परसत सतराइ।
रस ही रस बस कीजिये तुरकिनी तरकि न जाइ॥

'पग परसत सतराइ' में पूरा शील भी उतर आया है और रूप भी। रहीम ने 'वृत्ति' को 'वृत्त' के साथ जितना सटीक देखा है उतना किसी भी दूसरे कवि ने नहीं।

अस्तु, हमारा कहना है कि भारतीय संस्कृति एक है और है एक वृत्त तथा संस्कारपरक। उसके मूल में 'वृत्ति' का वास है, 'वित्त' का विलास नहीं। व्यवहार में उसे व्यंजनांत 'सम्' भाता है, स्वरांत 'सम' नहीं। संस्कृति और संविभाजन ही उसको इष्ट है, समवृत्ति या समविभाजन नहीं।

नागरी भाषा

नागरी से एक निश्चित भाषा का बोध होता है, केवल लिपि का नहीं। हिंदी का ही नाम नागरी भी है। 'काशी नागरीप्रचारिणी सभा के इतिहास में देखा जा सकता है यह वाक्य—

"इस सभा के सभासदों का मुख्य कर्तव्य *नागरी भाषा* का सीखना और उसी भाषा में वार्तालाप तथा पत्र-व्यवहार और अपने मित्रवर्गों को उसी भाषा की उन्नति में प्रस्तुत करना होगा।"

क्यों होगा, इसका उत्तर स्यात् इससे बढ़कर कोई दूसरा न होगा कि दिल्ली के प्रसिद्ध सूफी फकीर ख्वाजा हसन निज़ामी 'कुर्आन मजीद' की भूमिका में लिखते हैं—

"यह हिंदी जबान ममालिक मुत्तहृदा अवध और रुहेलखंड और सूबा सी० पी० और हिंदुओं की अक्सर देशी रियासतों में मुरव्वज है। गोया बंगाली, बर्मी, गुजराती और मरहठी वगैरह सब हिंदुस्तानी जबानों से ज्यादा रिवाज *हिंदी यानी नागरी ज़बान* का है। करोड़ों हिंदू औरत-मर्द अब भी यही जबान पढ़ते हैं और यही जबान लिखते हैं।"

'हिंदी यानी नागरी जबान' से यह भी स्फुट हो रहा है कि हिंदी का प्रयोग अधिक व्यापक है, पर नागरी का उतना नहीं। एक पुराना दोहा है जिसका उल्लेख राजा शिवप्रसाद ने किया है। उसे ध्यान से सुनिए—

अंतरवेदी नागरी गौडी पारस देस।
अरु अरबी जामैं मिलैं मिश्रित भाषा वेस॥

अमीर खुसरो से लेकर रहीम तक इस मिश्रित भाषा का सत्कार कैसा होता रहा और उसमें कैसी-कैसी रचना होती रही इसके कहने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार की मिश्रित रचना पहले भी यहाँ संस्कृत, प्राकृत और लोकभाषा को लेकर होती रही।

स्वामी दयानंद सरस्वती लाहौर के लाला मूलराज जीवनदास को २४ मार्च सन् १८७८ को मुलतान से लिखते हैं—

'एक काम यह आवश्यक है कि इस मुंशी से यह काम ठीक-ठीक नहीं हो सकता। इसलिये एक मुंशी अंगरेजी, फारसी और नागरी भाषा का पढ़ा हुआ हो।'

एक नहीं अनेक अवसरों पर स्वामी जी ने 'नागरी' का व्यवहार भाषा और इसी भाषा के अर्थ में किया है। यहाँ तक कि मैडम श्री ब्लेवतस्की को भी यही लिखा है—

"जिसका हमसे उत्तर चाहैं उसको *नागरी* करा के हमारे पास भेजा करें।"

'ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' के ये दो उद्धरण नागरी के उद्धार के लिए पर्याप्त हैं। फिर भी एक बंगाली कवि की बात भुलाई नहीं जा सकती। उसका साधुवाद है—

नागरी भारती भव्य चिर उपकृता आज, देन शत शुभ साधुवाद।

सप्तम हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर, सं० १९७४ वि० में यह वाणी जिसे सुनने को मिली थी और जिसे आज भी उसके कार्य-विवरण में देखने को मिल सकती है, वही इसको भली भाँति समझ सकता है कि कोई 'तरुण' कवि क्यों गाता है—

जयति नागरी, जयति नागरी।
सुधा-कलशमय वर्ण-वर्ण वर, भाषा भाव भरी। जयति नागरी।

हिंदुस्तानी

कह तो नहीं सकते पर न जाने किस आधार पर भविष्य पुराण में लिखा गया है कि विक्रमादित्य के पौत्र शालिवाहन ने 'सिंधुस्थान' की मर्यादा स्थापित की। पुराण का मत है—

सिन्धुस्थानमिति ज्ञेयं राष्ट्रमार्यस्य चोत्तमम्।
म्लेच्छस्थानं परं सिन्धोः कृतं तेन महात्मना॥

तो क्या यह समझ लेना ठीक न होगा कि यही 'सिन्धुस्थान' वस्तुतः 'हिन्दुस्थान' का मूल है और है भी यह इस रूप में इसलाम से पुराना? न हो, पर यदि फारसी के साथ इसका प्रयोग बढ़ा, तो केवल मध्यदेश के लोग ही ठेठ जनता में 'हिंदुस्थानी' क्यों कहे जाते हैं? फानी ने कभी कहा था—

फानी दकन में आके यह उकदा खुला कि हम।
हिंदोस्ताँ में रहते हैं हिंदोस्ताँ से दूर॥

इसमें पहला 'हिंदोस्ताँ' आज का सरकारी हिंदुस्तान है और दूसरा जनता का ठेठ हिंदुस्तान। किंतु 'हिंदुस्तानी' भाषा है किसी की नहीं। पहले 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग जहाँ कहीं भाषा के अर्थ में हुआ भी है वहाँ हिंदी अथवा व्रजभाषा के लिये ही। बादशाहनामा में तो स्पष्ट ही व्रजभाषा को ही 'हिंदुस्तानी' कहा गया है और कहा गया है किसी 'लाहौरी' के द्वारा ही, जो ठीक भी है। लाहौर के लोग व्रजवासी को 'हिंदुस्थानी' ही समझते हैं। 'सरहिंद' का 'हिंद' आज भी किसी तथ्य का द्योतन करता है। किंतु आज हमें ध्यान देना है 'फरिश्ता' के प्रयोग पर। फरिश्ता ने बीजापुर के अली आदिलशाह के फारसीप्रेम को सराहते हुए जो

कुछ लिखा है उसका भाव यही है कि शाहनिवाज खाँ के उद्योग से उसने फारसी का ऐसा अभ्यास किया कि हिंदुस्तानी बोलना भूल-सा गया। आप स्वयं समझ सकते हैं कि यह हिंदुस्तानी 'हिंदी' के अतिरिक्त और क्या हो सकती है। सच पूछिए तो 'दक्खिनी' में फारसी की बाढ़ इसी के शासन में आई और इसी की कट्टरता इतनी बढ़ी कि यहाँ हिंदी की उपेक्षा होने लगी।

इस समय फारसी के लोगों को कैसी चाट लगी थी, इसका कुछ पता इसी समय के काजी महमूद 'बहरी' के इस कथन से भी हो जाता है—

हिंदी ! तू जबान चे है हमारी, कहने न लगे हमन भारी।
और फारसी इस ते अति रसीला हर हर्फ में इश्क है न हीला ॥

फारसी की यह बाढ़ प्रतिदिन बढ़ती गई और अंत में हिंदी उर्दू होकर रही। जो लोग दक्खिनी को उर्दू से अलग नहीं समझते उन्हें मौलाना बाकर 'आगाह' के इस कथन का अर्थ बताना होगा, किस सरलता से साफ साफ कह जाते हैं—

"और इन सब रिसालों में शाइरी नैं किया हूँ बल्कि साफ और सादा कहा हूँ और उर्दू के भाके में नहीं कहा। क्या वास्ते कि रहनेवाले यहाँ के इस भाके से वाकिफ नहीं हैं। ऐ भाई ! यह रिसाले दक्खिनी जबान में है।"

श्री हामिद हुसैन कादिरी साहब ने 'दास्ताने तारीखे उर्दू' में इसको उद्धृत तो किया है पर इसकी पुकार को नहीं सुना है। हम अभी 'उर्दू के भाके' के बारे में कुछ नहीं भाखते, पर हिंदुस्तानी के प्रसंग में इतना तो बोल ही देते हैं कि फिरंगी को जो 'हिंदुस्तानी' दक्षिण में मिली वह उर्दू न थी। किंतु जो हिंदुस्तानी उसके शासन में बनी वह उर्दू के अतिरिक्त कुछ और न थी। प्रमाणों के पुंज से प्रयोजन क्या ? विज्ञों के लिये इतना पर्याप्त है कि अंगरेजी के सबसे अधिक प्रामाणिक कोश 'ए न्यू इंगलिश डिक्शनरी आन हिस्टारिकल प्रिंसिपुल्स' में इसको उर्दू का पर्याय कहा गया है और इसे मुहम्मदी विजेताओं की भाषा कहा गया है। उसका मूल कथन है—

द लैंग्वेज ऑव द मोहम्मडन कौंकरर्स ऑव हिंदुस्तान बीइंग ए फॉर्म ऑव हिंदी विद अ लार्ज ऐडमिक्सचर ऑव अरेबिक पर्शियन ऐंड अदर फॉरेन एलिमेंट्स, आल्सो कॉल्ड उर्दू।

और हमारे देश के सबसे अधिक आदरणीय 'सार्थ गुजराती जोडणी कोश' में, जिसकी रचना में पूज्य 'बापू जी' की प्रेरणा और श्री काका कालेलकर जी का योग है, लिखा गया है—

उर्दू—स्त्री० (तुर्की) एक भाषा; हिंदुस्तानी।

हिंदुस्तानी—स्त्री० अरबी-फारसीनी विशेष छायावाली हिंदीनो प्रकार।

हिंदी—स्त्री० उत्तर हिंदुस्तान मां बोलाती भाषा (२) हिंदनी राष्ट्रभाषा।

लिंगभेद

चलते चलते एक चुटकला भी सुन लीजिए और हिंदी के लिंगभेद की गहराई में उतरिए। बात दिल्ली के लाल किला की है। एक मुशाइरे में 'हया' ने पढ़ा—

साँस इक फाँस सी खटकती है, दम निकलता नहीं मुसीबत है।

बाप कड़क कर बोल उठा—

"मियाँ 'हया'! लखनऊ जाकर अपनी शकल तो बदल आए थे, अब जबान भी बदल दो! साँस को मुवन्नस बाँध गए?"

बात बेतुकी कह दी गई, पर बेटा भी शाहजादा ही था। नम्रता से कहा—

"जी नहीं क़िबला! मैंने तो उस्ताद 'जौक़' की तक़लीद की है। वह फरमाते हैं—

सोने में साँस होगी अभी दो घड़ी के बाद।"

सनद पक्की दी गई तो भी बाप ने गरमा कर कहा—

यह बताओ किले में साँस मुज़क्कर है या मुवन्नस?

आप मानें या न मानें पर इतना तो मानना ही होगा कि उर्दू में लिंग का झगड़ा उस समय 'किला' के द्वारा सरलता से निबटाया जा सकता था, पर आज इस विवाद का अंत कहाँ हो? हिंदी से यदि लोग घबड़ाते हैं तो इसी लिंगभेद के कारण। यदि हिंदी से यह लिंगभेद दूर हो जाता तो राष्ट्रभाषा का मार्ग इतना सरल और सीधा हो जाता कि कोई भी पथिक उसपर सरलता से चल सकता, परंतु यह सहसा होता नहीं दिखाई देता। स्यात् हो भी नहीं सकता। कारण प्रत्यक्ष है और वह, यही है कि इस देश के एक बड़े भूभाग के लोग घर में बोलते ही

ऐसे हैं। उनकी प्रतिदिन की बानी में यह भेद गोचर होता है। अतएव उनसे तो कहा नहीं जा सकता कि आप ऐसा न बोलकर ऐसा बोलें और अपनी क्रिया में से लिंगभेद उठा दें। क्या उनसे ऐसा कहना उचित होगा? जब अपनी भाषा को आप पनपा और बढ़ा सकते हैं तब अपनी बानी में बोलने तथा उसको जीवित रखने का भी अधिकार उन्हें क्यों नहीं? क्या आपने इसकी भी कभी मीमांसा की है? यदि नहीं तो इसको दृष्टि में रखकर ही आप हिंदी को लिंगमुक्त करने की सोचें। वस्तुतः इस लिंगभेद का कारण क्या है। सो इतना तो प्रकट ही है कि यह लिंगभेद क्रिया में कृदंत के कारण ही है; पर यह कृदंत क्या है, इसको भी जान लेना चाहिए। अन्यों की तो नहीं कहते पर अपना यह दृढ़ मत है कि महाभाष्य में जो 'कृदन्तरुचयः उदीच्याः' कहा गया है उसका कुछ रहस्य है। कहते हैं कि कृदंत के प्रयोग के कारण संस्कृत सरल हो गई। आप देख भी सकते हैं कि बात पक्की है। परंतु आज आँख से जो ओझल है वह 'उदीच्य' की इस रुचि का कारण। हमने पहले यह कहा था कि बाहरी लोगों के संसर्ग से ही अपभ्रंश बनी; यहाँ फिर उसी को दोहराते हुए कहते हैं कि उन्हीं के हेतु उदीच्य में कृदंत का प्रयोग बढ़ा तथा उन्हीं के संयोग से नागरी की क्रिया में यह लिंगभेद आया। इसको मिटा देना सरल नहीं, यह तो इस भाषा की शक्ति को ही क्लीव कर देना है।

हिंदी की क्षमता

हिंदी में जो क्षमता है उसको सबके सामने ला खड़ी करना हमको इष्ट नहीं और न हम यही कहना चाहते हैं कि हमारे कोश में क्या है। हम मान लेते हैं कि विश्व के विकास में जैसे हमारा देश पीछे रह गया वैसे ही भाषा के विकास में हमारी भाषा भी पीछे रह गई। पर कौन है प्राणी विश्व में जो सामने आकर कह दे कि किसी विकास की हममें क्षमता नहीं? हम जानते हैं कि एक ओर जहाँ कुछ लोग हमें साम्राज्यवादी कहकर तोष प्राप्त करते हैं वहीं कुछ लोग हमें अकिंचन कहकर हमारी अवमानना भी कम नहीं करते। किंतु हम इससे तनिक भी विचलित नहीं होते, क्योंकि हम जानते हैं कि इसका रहस्य क्या है। हिंदी में क्या है, क्या नहीं है, इसे भला वह कैसे जान सकता है जिसने कभी फूटी आँख से भी हिंदी को नहीं देखा और यदि कभी भूल से देख भी लिया तो किसी और ही चक्षु से, किसी चाबुक के साथ। हम अपने आलोचकों से केवल एक प्रश्न पूछना चाहते हैं,

और वह यह कि कभी आपको अपनी पराधीनता का अनुभव हुआ है या नहीं? यदि हाँ, तो आप भूल क्यों जाते हैं कि हमारी भाषा अपने घर में ही बंदिनी रही है। उसकी वंदना सदा घर के बाहर हुई है। 'नागरी' किंवा खड़ी हिंदी का घर बताया जाता है मेरठ के आस-पास। जहाँ कहीं भी हो, पर सच तो कहें किसी भी हिंदी के इतिहास में आपको कितने मेरठी मिले हैं? कह दें—एक भी नहीं। क्यों? हमारी समझ में यही तो कारण है जो हिंदी आज राष्ट्रभाषा है, राज्यभाषा है, अथवा जो चाहें कह लें। इस तथ्य की उपेक्षा आप नहीं कर सकते और उसने यह पद लिया है किसी से छीन कर नहीं, किसी से लड़कर भी नहीं। उसको तो यह पद मिला है सभी देश-भाषाओं के योग से। आप किसी भी हिंदी के 'वीरव्रती' को ले लीजिए, राजर्षि टंडन जी से पूछ देखिए, 'राहुल' जी से पूछ देखिए, भदंत जी से पूछ देखिए, जिससे चाहें पूछ देखिए। आपको यही उत्तर मिलेगा कि घर की बोली के नाते नहीं, राष्ट्र की भाषा के कारण ही हमने यह व्रत लिया है और इसीसे हमने इस देवी की आराधना की है।

निर्देश

हिंदी

अश्वघोष कृत बुद्धचरित—डा० हीरालाल जैन, "मानवता", दिसंबर ४९।

आम फिर बौरा गए—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; "कलानिधि" वर्ष २ अंक २।

ऋग्वेद में नदीस्तुति सूक्त की ऐतिहासिक व्याख्या—डा० राजबली पांडेय, "ज्ञानोदय", जनवरी १९५०।

एशिया और भारत—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; "नयासमाज", जनवरी १९५०।

कालिदास का काल-निर्णय—श्री चंद्रबली पांडेय; "विकास", भाग १ अंक ३-४।

चंद्रगुप्त प्रथम की अद्वितीय सुवर्ण मुद्रा—डा० बहादुरचंद छाबड़ा; "कलानिधि", वर्ष १ अंक २।

चीनी भारतीय संस्कृति में अहिंसा तत्त्व—श्री तान युन-शान; "विश्ववाणी", दिसंबर १९४९।

ध्वनि सिद्धांत—श्री गिरिजाकुमार माथुर; "प्रतीक", हेमंत १०, सं० २००६।

नई हिंदी कविता में छंद-प्रयोग—श्री प्रभाकर माचवे; वही।

पदैकदेशे पदमात्र ग्रहणम्—श्री भीमसेन शास्त्री; "विकास", भाग १ अंक ३–४।

प्राचीन भारत में प्रसाधन—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी; "आजकल", जनवरी १९५०।

भारतकला भवन का एक विशिष्ट चित्र-संग्रह—संग्रहाध्यक्ष (श्री राय कृष्णदास); "कलानिधि", वर्ष १ अंक २।

भारतीय कथाओं की विदेश यात्रा—श्री रामपूजन तिवारी; "आजकल", जनवरी १९५०।

महर्षि वाल्मीकि का आश्रम कहाँ था—श्रीनीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी, "माधुरी", दिसंबर १९४९।

यह हिंदुस्तानी है—श्री संपूर्णानंद; "माधुरी", पौष २००६।

राष्ट्रभाषा का गौरव—श्री महादेव सीताराम करमरकर, "सरस्वती", जनवरी १९५०।

रूपक की रम्यता—श्री बलदेव उपाध्याय; "कलानिधि", वर्ष १ अंक २।

लल्लूलाल कृत माधव-विलास—श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; "प्रतीक", हेमंत १० सं० २००६।

वैज्ञानिक पारिभाषिक—श्री ललितकिशोर सिंह; "जनवाणी", नवंबर १९४९।

ब्रज साहित्य—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; "विश्ववाणी", दिसंबर १९४९।

समुद्र—(ले० डा० आनंदकुमार स्वामी) अनु० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; "आजकल", दिसंबर १९४९।

हमारी राष्ट्रभाषा की समस्या—ले० अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक विद्यार्थी; "सरस्वती", जनवरी १९५०।

अंग्रेजी

ए स्टडी ऑव द वर्ड महत्—श्री बुद्धप्रकाश; बिहार रिसर्च सोसायटी की पत्रिका, भाग ३५ अंक १–२।

क्रॉनॉलॉजिकल ऑर्डर ऑव पंचमार्क्ड कॉयंस—श्री डी० डी० कोशांबी; रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बंबई शाखा की पत्रिका, भाग २४–२५, १९४७–४९।

ट्रेसेज ऑव शॉर्ट ए ऐंड ओ इन ऋग्वेद—डा० ए० एम० घाटगे; भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट की पत्रिका, भाग २९ अंक १–४।

द निरुक्त, इट्स रिसेंशंस—श्री विष्णुपद भट्टाचार्य; इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली पत्रिका, भाग २५ अंक ३।

द मग डायनेस्टी ऑव वराहमिहिर—श्री दिलीपकुमार विश्वास, एम० ए०; वही।

द मूवमेंट्स ऑव द पांडवाज—श्री बी० बी० मथवाले, एम० ए०; भं० ओ० रि० इं० पत्रिका, भाग २९ अंक १–४।

द रेवेलेटरी कैरेक्टर ऑव हिंदू एपिस्टेमॉलॉजी—श्री डी० के० बेडेकर; वही।

द शुंग डायनेस्टी—श्री तारापद भट्टाचार्य; बिहार रिसर्च सोसायटी की पत्रिका, भाग ३५ अंक १–२।

दि अवतार सीक्रेटिज्म ऐंड पॉसिबुल सोर्सेज ऑव भगवद्गीता—श्री डी० डी० कोशांबी; रा० ए० सो० बंबई शाखा की पत्रिका, भाग २४-२५।

द इमेज ऑव नारायण—डा० एल० बी० केनी; भं० ओ० रि० इं० पत्रिका, भाग २९ अंक १–४।

प्रोसोडियल प्रेक्टिस ऑव द संस्कृत पोएट्स—श्री एच० डी० वेलनकर; रा० ए० सो० बंबई शाखा की पत्रिका, भाग २४–२५।

मौर्यन ऐंड प्री मौर्यन क्रॉनॉलॉजी अकॉर्डिंग टु द पुरानाज—डा० पुरुषोत्तम लाल भार्गव; जर्नल ऑव इंडियन हिस्ट्री, भाग २७ अंक २।

रीजनल डिवीजंस ऑव एंशंट इंडिया—डा० एस० बी० चौधरी; भं० ओ० रि० इं० पत्रिका, भाग २९ अंक १-४।

लायब्रेरीज इन एंशंट इंडिया—श्री बर्नर्ड ऐंडर्सन; जर्नल ऑव इंडियन हिस्ट्री, भाग २७ अंक २।

लायब्रेरीज इन एंशंट ऐंड मेडीवल इंडिया—श्री एन० सुबरमनिया शास्त्री; श्री वेंकटेश्वर ओरियंटल इंस्टीट्यूट की पत्रिका, भाग १० अंक। १

मेथड्स ऑव हिस्टॉरिकल रिसर्च—श्री के० बी० सुब्रह्मण्य ऐयर, बी ए०; कर्नाटक हिस्टॉरिकल रिव्यू, भाग ७।

वराहमिहिर ऐंड उत्पल—श्री पी० बी० काने; रा० ए० सो० बंबई शाखा की पत्रिका, भाग २४-२५।

व्यू ऑव जैमिनि ऐंड शबर ऑन लैंग्वेज—डा० जी० वी० देवस्थली; भं० ओ० रि० इंस्टीटयूट की पत्रिका, भाग २९ अंक १–४।

सम कांटिनेंटल नोटिसेज ऑन डिवीजंस ऑव इंडिया—डा० एस० बी० चौधरी; जर्नल ऑव इंडियन हिस्ट्री, भाग २७ अंक ३।

सम डार्क स्पॉट्स इन द हिस्ट्री ऑव द राष्ट्रकूटाज—श्री के० वी० सुब्रह्मण्य ऐयर; कर्नाटक हिस्टॉरिकल रिव्यू, भाग ७।

समीक्षा

बुद्धचरित दो भाग—(ले० अश्वघोष) अनुवादक सूर्यनारायण चौधरी, एम० ए०, प्रकाशक—संस्कृत भवन, कठौतिया, पो० काझा, जिला पूर्णिया (बिहार); मूल्य प्रथम भाग १।) द्वितीय १)

अश्वघोष कृत बुद्धचरित संस्कृत का एक महाकाव्य है, जिसमें बुद्ध का जीवन-वृत्तांत और उनके सिद्धांतों का संग्रह है। इस ग्रंथ की तीन पुरानी प्रतियों का ही पता अब तक लग पाया है। एक कैंब्रिज यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय में, दूसरी ई० बी० कावेल के पास और तीसरी सिल्वन लेवी के पास। इनमें भी मूल पोथी में अब केवल १३ सर्ग ही प्राप्य हैं, जिनमें कथा बुद्ध जन्म से लेकर बुद्धत्व प्राप्ति तक ही पहुँचती है। इसी के आगे के चार सर्ग किसी नेपाली पंडित अमृतानंद द्वारा रचकर जोड़े गए हैं, उस पुस्तक की पुष्पिका में लेखक ने स्वयं लिखा है—

सर्वत्रान्विष्य नो लब्ध्वा चतुः सर्गं च निर्मितम्।
चतुर्दशं पञ्चदशं षोडशं सप्तदशं तथा ॥
शून्य बाणांक युग्वर्षे मार्गे मासेऽसिते स्मरे।
अमृतानन्देन लिखितं बुद्धकाव्यं सुदुर्लभम् ॥

अर्थात् ९५० नेपाल संवत् में वह ग्रंथ पूरा किया गया। परंतु धर्मरक्ष (४१४ ई०) द्वारा इसी ग्रंथ का चीनी में अनुवाद किया गया था, जिसमें २८ सर्ग थे और बुद्ध के निर्वाण तक कथा का विस्तार था। यही नहीं, तिब्बती अनुवाद में भी, जो प्रायः सातवीं या आठवीं शती में हुआ है, अट्ठाईस सर्ग हैं। स्वर्गीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अपनी खोज का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा था कि 'निश्चय ही संस्कृत का बुद्ध-चरित अधूरा है।' अतः तिब्बती एवं चीनी अनुवाद के सहारे इसका उद्धार संभव है। सौंदरानंद के उद्धरणों से पता चलता है कि अश्वघोष अयोध्या का रहनेवाला और सुवर्णाक्षी का पुत्र था। इसका समय अभी तक विद्वानों के विवाद का विषय बना हुआ है, तथापि इतना निश्चय है कि वह कालिदास का पूर्ववर्ती अवश्य है। बुद्धचरित के कुछ श्लोकों की छाया रघुवंश एवं कुमारसंभव के छठे सर्गों में देखी जा सकती है।

प्रस्तुत हिंदी अनुवाद दो भागों में पूरा हुआ है। पहले भाग में अनुवाद के साथ मूल भी है और दूसरे भाग में केवल अनुवाद। अनुवादक ने कहीं कहीं पारिभाषिक शब्दों को अधिक स्पष्ट करने के लिये फुटनोट भी दिए हैं जिनसे उनका मूल रूप समझने में थोड़ी सहायता मिलती है। दूसरे भाग का हिंदी अनुवाद लेखक के कथनानुसार ही डाक्टर जान्स्टन द्वारा तिब्बती से अंग्रेजी में किए गए अनुवाद पर से किया गया है, और पहले भाग के अनुवाद में भी लेखक को उससे 'बड़ी सहायता' मिली है। इस कारण उसकी प्रामाणिकता के विषय में विशेष कहना नहीं है। हाँ, अनुवाद की भाषा के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसमें वह सजीलापन नहीं है जो भारतीय कथावस्तु का अवलंब लेकर चलनेवाली भाषा में होना चाहिए। उदाहरण के लिये, 'विरेजुः' (५।५४) का अनुवाद 'शोभ रही थीं' किया है। इस प्रकार के और उदाहरण दिए जा सकते हैं। कहीं कहीं असावधानी के कारण मूल पाठ में भी गड़बड़ी हो गई है जिसके कारण श्लोक की विकृति के साथ भाव भी गड़बड़ा गया है। जैसे 'चलकुण्डलचुम्बिताननाभिर्घनन-निश्वासविकम्पिताभिः' में 'घन' के आगे एक और 'न' जुड़ जाने से समझना कठिन है कि क्या अर्थ होना चाहिए। यत्र तत्र मुद्रण संबंधी त्रुटियाँ भी रह गई हैं। यदि ग्रंथ के अंत में एक परिशिष्ट के रूप में अमृतानंद के रचे हुए चारों सर्ग भी जोड़ दिए गए होते तो पाठकों को सब सामग्री एकत्र मिल जाती, और जो अधूरे श्लोक छोड़ दिए गए हैं वे भी पूरे हो जाते।

फिर भी सब मिलाकर अनुवादक का प्रयास अवश्य प्रशंसनीय है। इससे महाकवि अश्वघोष की श्लाघ्य रचना का जनता में प्रसार होगा। संभव है अगले संस्करण में यह और अधिक परिमार्जित रूप में पाठकों के सामने आए। एक दुर्लभ उच्च कोटि के काव्य को हिंदी पाठकों के हेतु सुलभ बनाने के लिये अनुवादक बधाई के पात्र हैं।

—उदयशंकर शास्त्री

रसायनिक सत्ता विश्लेषण—ले० श्रीगोरखप्रसाद श्रीवास्तव; प्रकाशक हिंदी प्रकाशनमंडल, हिंदू विश्वविद्यालय काशी; पृ० सं० २८९, मूल्य ६।

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमहादेवलाल श्राफ और श्री गोरखप्रसाद श्रीवास्तव की एक अंग्रेजी पुस्तक का हिंदी अनुवाद है। अंग्रेजी पुस्तक अपने विषय की प्रामाणिक

और उपयोगी पुस्तक है, अतः अनूदित पुस्तक के विषय-विस्तार और शैली की आलोचना अनावश्यक है।

डा० रघुवीर की रसायन-परिभाषाओं का इस पुस्तक में प्रयोग किया गया है। पारिभाषिक शब्दों के संबंध में मतभेद होना स्वाभाविक है, पर अन्य दृष्टियों से अनुवाद की भाषा और शैली संतोषजनक है। छपाई आदि भी अच्छी है। सूत्र और समीकरण साथ साथ अंग्रेजी में भी दे दिए गए हैं और यत्र-तत्र अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द भी दे दिए गए हैं।

जहाँ तक मेरा विचार है, अभी दो-तीन पीढ़ियों तक विश्वविद्यालयों में रसायन के अनेक पारिभाषिक शब्द (विशेषतया तत्वों और यौगिकों के नाम) यूरोपीय ही प्रचलित हो सकेंगे, और इसके बाद इनमें से अधिकांश अपनी भाषा में हिल-मिल जायँगे। मुझे संदेह है कि 'ग्राम' के लिये 'धान्य', लीटर के लिये 'प्रस्थ' और इसी प्रकार के अन्य शब्दों का कभी प्रचार हो सकेगा कि नहीं।

डा० रघुवीर की पद्धति की अनेक विशेषताएँ हैं, और उनमें गुण भी हैं, पर इस समय उनकी कर्मठता के विरुद्ध एक ऐसी प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गई है, जिसमें हम सब हिंदी प्रेमियों की कठिनाइयाँ और अधिक बढ़ गई हैं। मैंने सायंस कांग्रेस, इंडियन एकेडमी, और विश्वविद्यालयों में इस प्रतिक्रिया का बराबर अनुभव किया है।

इस समय वैज्ञानिक साहित्य के लिये ऐसी नीति का अनुसरण करना चाहिए जिसमें देश के वैज्ञानिकों, विज्ञान विषय के अध्यापकों और साहित्य-निर्माताओं का सहयोग मिल सके। इस दृष्टि से मुझे संदेह है कि प्रस्तुत ग्रंथ हमारे मार्ग को प्रशस्त कर सकेगा। अन्यथा यह पुस्तक विषय और भाषा दोनों की दृष्टि से अच्छी और हमारी बधाई की पात्र है।

—सत्यप्रकाश

मायावर्ग—हिंदू विश्वविद्यालय ग्रंथमाला की सोलहवीं पुस्तक। ले० डा० ब्रजमोहन; प्रकाशक 'बिड़ला हिंदी-प्रकाशन मंडल, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी। मू० २)

यह पुस्तक गणित को लोकप्रिय बनाने के विचार से लिखी गई है और लेखक द्वारा इस उद्देश्य से आयोजित पुस्तकमाला की प्रथम पुस्तक है। किसी समय यह देश गणित विद्या में अन्य देशों से कहीं आगे बढ़ा हुआ था। अंक-गणित के

सिद्धांत के विषय में भारत का ऋण संसार मानता है। किंतु खेद है कि आज यह देश इस विषय में अन्य देशों से बहुत पिछड़ा हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने मायावर्गों के निर्माण की रीतियाँ अत्यंत सरल और सुंदर रीति से समझाई हैं। आकृतियाँ पर्याप्त संख्या में दी गई हैं। अनेक स्थलों पर यंत्र और तावीज के रूप में मायावर्गों के उपयोग की ओर संकेत किया गया है। यथा छठे वर्ण के एक वर्ग (आकृति ५५) के संबंध में लिखा है—"यह वर्ग सूर्यदेव को प्रिय है। पौराणिक गाथाओं के अनुसार जिसके पास यह वर्ग होता है उसके शत्रुओं का नाश होता है और उसे अपने मित्रों से लाभ होता है। परंतु उसके मामा-मामी को अनेक रोग सताने लगते हैं।" गणित की एक आधुनिक पुस्तक में इस प्रकार की अंध-विश्वास का पोषण करनेवाली बातों के संकलन का औचित्य संदिग्ध है। पर इस देश में अंधविश्वासों और धार्मिक रूढ़ियों का इतना अधिक प्रचलन है कि उक्त प्रकार की बातों से पाठक अधिक संख्या में आकर्षित होंगे। पुस्तक के अध्ययन के पश्चात् उन्हें विदित होगा कि इन मायावर्गों में कोई जादू जैसी चीज नहीं है क्योंकि ये सरलता से बनाए जा सकते हैं, यद्यपि एक स्थल पर (पृ० ४१) द्वितीय वर्ण के वर्ग बनाना असंभव बताते हुए लेखक ने लिखा है—"इस तथ्य का भी लोग एक विशेष अर्थ लगाते हैं। हिंदू पुराणों के अनुसार विश्व पाँच तत्वों से बना है—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश। हम चार संख्याओं से कोई मायावर्ग नहीं बना सकते। इसका पौराणिक अर्थ यह है कि विश्व की रचना चार तत्वों से नहीं हो सकती, पाँचों तत्व आवश्यक हैं।" समीक्षक की राय में इस प्रकार के निष्कर्ष का उत्तरदायित्व पुराणों के सिर नहीं लादा जा सकता; क्योंकि यदि यह कसौटी ठीक होती तो विश्व की रचना नौ तत्वों से हुई होती।

मुद्रण की अशुद्धियों का इस पुस्तक में प्रायः अभाव है। हाँ, पृष्ठ ४७ पर पूरक संख्याओं के दिए हुए उदाहरण अशुद्ध हैं। पुस्तक के अंत में हिंदी-अंग्रेजी और अंग्रेजी-हिंदी शब्द-कोष दे देने से इसकी उपादेयता बढ़ गई है। आशा है यह मायावर्गों का अध्ययन लोकप्रिय बनाने में सफल होगी।

—चंडीप्रसाद

पाश्चात्य तर्कशास्त्र भाग १, २—लेखक श्री भिक्षु जगदीश काश्यप एम० ए०; प्रकाशक विद्या प्रकाशन मंदिर, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी; मूल्य क्रमशः ६), ५॥)

हिंदी माध्यम से उच्च शिक्षा देने के लिये सभी विषयों की पुस्तकों का हिंदी में होना परमावश्यक है। इस दृष्टि से पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की दिशा में श्री कश्यप का यह प्रयत्न स्तुत्य है।

प्रथम भाग में निगमन विधि तथा द्वितीय भाग में व्याप्ति विधि दी गई है। 'विषय, क्रम, उदाहरण, उपमा, शैली आदि सभी प्रकार से अपने अंग्रेजी संस्करणों का प्रतिरूप' होते हुए भी इन पुस्तकों की मौलिकता में कोई कमी नहीं आने पाई है। उदाहरण तथा उपमाएँ शास्त्रीय होने के साथ साथ भारतीय जीवन से ली गई हैं, अतः सहज ही बोधगम्य हैं। भाषा की सरलता एवं साहित्यिकता के कारण विषय सुंदर एवं सुरुचिपूर्ण हो गया है। संकेतों, उदाहरणों, उपमाओं तथा रेखा-चित्रों द्वारा विषय को भली भाँति समझाकर स्पष्ट और सुव्यवस्थित बना दिया गया है।

भारतीय तर्कशास्त्र की व्याप्ति एवं निगमन विधियों से पाश्चात्य तर्कशास्त्र की तुलना करते हुए दोनों--पाश्चात्य एवं प्राच्य--प्रणालियों को विशद करने का प्रयत्न किया गया है। तर्कशास्त्र के विभिन्न विद्वानों के मत उनकी समीक्षा के साथ दिए गए हैं। परिशिष्ट में प्रश्नों की हिंदी-रूपांतरित सूची अंग्रेजी के साथ दी गई है जो विद्यार्थियों के लिये बहुत उपयोगी है। पादटिप्पणियों में अंग्रेजी के मूल दे देने से नए पारिभाषिक शब्दों का समझना सुगम है।

विद्वानों के मतों को जितना आवश्यक समझा गया है उतना ही दिया गया है, वह भी अंशतः ही। समीक्षा भी विस्तृत नहीं दी गई है, संभवतः पुस्तक का आकार बढ़ जाने के भय से। पर इससे पुस्तक की उपयोगिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ, विद्यार्थियों के हितार्थ, अनुच्छेदों का पार्श्ववर्ती सारांश तो दिया ही जा सकता था। आशा है अगले संस्करण में इसपर ध्यान दिया जायगा।

—केदारनाथ चौबे

हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—लेखक श्री अवधनारायण वर द्विवेदी; प्रकाशक राष्ट्रभाषा-पुस्तकमाला, काशी तथा बंबई; मूल्य १॥)

पुस्तक के नाम से स्पष्ट है कि इसमें हिंदी साहित्य का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया गया है। प्रारंभ में भाषा की उत्पत्ति और इतिहास के काल-विभाजन के सिद्धांतों का निर्देश किया गया है। प्रत्येक काल की विशेषताओं का सामान्य परिचय तथा उस काल के प्रसिद्ध कवियों के संबंध में मोटी-मोटी बातें भी बतला

दी गई हैं। आधुनिक युग के गद्य के आविर्भाव की चर्चा करने के अनंतर उसे तीन भागों में विभक्त किया गया है—विकास युग, प्रसार युग और उन्नति युग। आधुनिक युग का इतिहास लिखते समय जिस सजगता की अपेक्षा की जाती है उसका यहाँ अभाव है। कुछ उच्चकोटि की प्रतिभावाले लेखकों का नामोल्लेख भी नहीं हुआ है। जैसे—अज्ञेय, यशपाल, महराजकुमार डा० रघुबीरसिंह आदि। छायावाद-रहस्यवाद को समझाने के लिये जितना स्थान घेरा गया है उतने में उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों को संक्षेप में दिखाया जा सकता था। प्रगतिवाद को कोसने की जगह यदि तात्त्विक रूप से उसके गुण-दोषों पर विचार करने की प्रवृत्ति रही होती तो निश्चय ही विद्यार्थियों का अधिक लाभ होता। फिर भी इसे पढ़ डालने पर सामान्य विद्यार्थियों की ज्ञान-वृद्धि होगी।

हिंदी कविता का अध्ययन—ले० प्रो० शिवनंदन प्रसाद एम० ए०, साहित्यरत्न; प्रकाशक रामसहायलाल बुकसेलर, गया; मू० १।।।)

प्रस्तुत पुस्तक की रचना आई० ए० और बी० ए० के विद्यार्थियों के लाभ को दृष्टि में रखकर की गई है। प्रारंभ में कविता के तत्वों का विवेचन तथा हिंदी कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक विकास दिखाया गया है। भाव, रस, कल्पना, अलंकार, छंद आदि के परिचयात्मक ज्ञान का अच्छा चयन हुआ है। कविता की प्रवृत्तियों के अध्ययन से विद्यार्थियों का अवश्य लाभ होगा। किंतु बी० ए० के विद्यार्थियों के लिये स्तर की ऊँचाई और विस्तृत सामग्री का चयन अपेक्षित है।

कवियों का आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत करते समय थोड़े में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त कराना लेखक का लक्ष्य प्रतीत होता है। किंतु इस परिगणन प्रणाली से विद्यार्थियों के पल्ले अधिक नहीं पड़ता। विद्यापति के संस्कृत के ग्रंथों की पूरी तालिका, उनकी बहुत सी उपाधियों के उल्लेख आदि की भूल-भुलइया में आलोचनात्मक अंश खो जाता है। अधिकांश कवियों की आलोचना में यही पद्धति अपनाई गई है। जहाँ-तहाँ कवियों की काव्यात्मक विशेषताओं का उल्लेख भी इसी सूची-प्रणाली पर किया गया है। इससे विद्यार्थियों को किसी भी बात का ढंग से बोध नहीं हो पाता। यदि थोड़े में अधिक कहने की प्रवृत्ति को दबाकर कवि की जीवनी और काव्यात्मक विशेषताओं पर दृष्टि रखकर आलोचना की गई होती तो लेखक अपनी लक्ष्यपूर्ति में अधिक सफल होता। मुद्रण संबंधी त्रुटियों का उल्लेख तो अनावश्यक है।

—बच्चनसिंह

नवजीवन प्रकाशन मंदिर (अहमदाबाद) की दो पुस्तकें :

(१) गांधी-साहित्य-सूची—संयोजक श्री पांडुरंग गणेश देशपांडे ; पृष्ठ संख्या १६ + १४० ; प्रथम संस्करण, सजिल्द ; मूल्य १।)

गांधी जी ने देश एवं जनता-जनार्दन की सेवा के निमित्त जो कुछ कहा और लिखा है तथा जिस सर्वोदय की व्यावहारिक शिक्षा दी है उसे जानने और समझने की अपेक्षा रखनेवालों के लिये गांधी-साहित्य-सूची बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। इसमें गांधीजी के प्रकाशित साहित्य तथा उनके जीवन, कार्य एवं तत्त्वज्ञान संबंधी पुस्तकों की सूची तो है ही, ऐसी पुस्तकों की भी सूची है जिनसे उनके व्यक्तित्व, जीवन, कार्य एवं तत्त्वज्ञान को समझने में विशेष सहायता मिलती है।

प्रस्तुत सूची में, गांधी साहित्य के अंतर्गत आनेवाली हिंदी, गुजराती, मराठी, बँगला, उर्दू, कन्नड़, संस्कृत, सिंधी एवं अंग्रेजी में गतवर्ष तक प्रकाशित प्रायः सभी पुस्तकों के नाम आ गए हैं। पुस्तकों का विषयानुसार वर्गीकरण कर दिया गया है।

यद्यपि गांधी-साहित्य की वृद्धि बड़ी तीव्र गति से हो रही है और ऐसी सूची अधूरी कही जा सकती है, तथापि इस सूची की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सूची में लेखक, प्रकाशक का नाम और पता, समय, पृष्ठ संख्या, मूल्य आदि दे दिया गया है। संयोजक प्रत्येक पुस्तक का सामान्य विवरण भी देना चाहते थे। यह हो सकता तो पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ जाती। फिर भी आशा है इस सूची से गांधीजी के आदर्शों के प्रसार में सहायता मिलेगी। प्रत्येक पुस्तकालय में इसका रहना आवश्यक है। सर्वोदय-प्रेमी तो कोई भी व्यक्ति इसे अपनाए बिना नहीं रह सकता।

(२) महादेव भाई की डायरी, पहला भाग—(१०-३-३२ से ४-९-३२ तक ; गांधीजी के साथ यरवदा जेल में) संपादक श्री नरहरि परीख ; अनुवादक श्री रामनारायण चौधरी; पृ० सं० ८ + ४०४, सजिल्द, प्रथम संस्करण ; मूल्य ५)

महादेव देसाई १९१७ से १९४२ तक महात्मा गांधी के साथ थे। उन्होंने इन पचीस वर्षों की दैनंदिनी रखी है। प्रस्तुत डायरी १९३२ की है। यह जेल में लिखी गई है, और अवकाश से ; अतः इसमें अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें हैं जो अभी तक प्रकाश में नहीं आई थीं।

इस डायरी में मुख्य पात्र तीन हैं—गांधीजी, सरदार पटेल और महादेव भाई। तीनों का जीवन एक दूसरे के साथ गुँथा है। तीनों की वार्ता, चर्या, कार्य, स्वभाव और चरित्र का हमें इसमें दर्शन होता है। गंभीर और हल्के सभी प्रकार के प्रसंग दिए गये हैं। विनोद-वार्ता का भी अभाव नहीं है। लौह पुरुष सरदार पटेल की सरलता और विनोदप्रियता का एक प्रसंग उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा—

"एक प्रसिद्ध महिला ने विधवा होकर एक प्रसिद्ध सज्जन से शादी की थी। उस सज्जन के मरने पर क्या वह फिर विवाह करेगी ? यह मैंने सहज ही पूछा। वल्लभ भाई कहने लगे—'अब इस घोड़े को कौन घर में बाँधेगा ? उसे तो सभी जानते हैं। और उसकी उमर भी तो हो गई। अब वह शादी करने की इच्छा भी नहीं करेगी।' बापू—'मुझे याद है कि एक ६४ साल की स्त्री ने ब्याह किया था। उसने शादी के बाद मुझे लिखा था कि 'मैं मिसेज ओ० नहीं हूँ, परंतु मिसेज पी० हूँ। आप हमारे यहाँ आएँगे तब मेरे पति से पहिचान होगी।' इस स्त्री ने सिर्फ एक साथी बनाने के लिये शादी की थी।

"मैंने कहा—गेटे ने ७३ वर्ष की उम्र में एक १८ साल की लड़की से ब्याह करने की इच्छा प्रकट की थी। उसके माँ बाप को चोट पहुँची और उन्होंने इनकार कर दिया।

"वल्लभ भाई—गेटे था इसलिये चोट ही पहुँची। मैं होऊँ तो उसे गरम लोहे के दाग लगाऊँ और उससे कहूँ कि तुम्हारी अकल मारी गई है और वह दाग लगाने से ही ठिकाने आएगी।" (पृ० २४१)

डायरी में कितने ही प्रसंग मार्मिक हैं। कहीं गीता और रामायण की चर्चा है, कहीं सत्य और अहिंसा की। महादेव भाई का स्वाध्याय यत्र तत्र सर्वत्र बिखरा है। गांधीजी द्वारा लिखाए पत्रोत्तरों की भरमार है। प्रत्येक पृष्ठ में उपदेश एवं प्रेरणात्मक बातें हैं।

महादेव भाई की डायरी सभी के लिये उपयोगी है। इससे ज्ञानवर्द्धन तो होता ही है, सर्वोदय की ओर उन्मुख होने के लिये प्रेरणा भी मिलती है।

अनुवाद अच्छा है। कहीं कहीं गुजरातीपन खटकता है। जैसे बापू दूर खड़े थे। वे 'धूप' रहे थे। (पृष्ठ ३३४)। आशा है अगले संस्करण में ऐसी बातों का सुधार कर दिया जायगा।

—श्री [illegible] भट्ट

हमारी जबान—अंजुमन तरक्की उर्दू (हिंद) का उर्दू पाक्षिक पत्र ; संपादक काजी अब्दुल गफ्फार ; वर्ष ८, अंक १ ।

देश के विभाजन के बाद अब 'अंजुमन तरक्की उर्दू' का कार्य डा० जाकिर-हुसेन की अध्यक्षता में फिर आरंभ हुआ है। हिंदी के राजभाषा स्वीकृत होने पर अब इसे ४००००) मासिक के रूप में केंद्रीय सरकार की कृपा प्राप्त हुई है। इसी संस्था का यह पाक्षिक पत्र अपने पुराने उद्देश्य के साथ फिर प्रकट हुआ है--

"हमारी जबान का मक़सद वही है जो पहले था, यानी मुल्क की मुश्तर्का जबान के मुताल्लिक़ अंजुमन के मक़ासिद का परचार और इस तहरीक के लिये ज्यादा से ज्यादा मैदान पैदा करना।" इसकी भाषा-नीति तो यह है कि 'उर्दू, हिंदुस्तानी और हिंदी के दरम्यान तंगनज़री, रक़ाबत और तास्सुब न पैदा होने दें' ; परंतु स्वप्न वही है—उर्दू को भारत की 'क़ौमी जबान' बनाना। अतः हिंदी के राज-भाषा होने पर उसकी निराशा स्वाभाविक है—

"हिंदी जबान को मुल्क की सरकारी जबान बनाने का फ़ैसला जिस क़दर मायूसकुन है उसी क़दर वह कोशिशें भी जो हिंदी को संस्कृत के साँचे में ढालने की आजकल की जा रही हैं।" पर इसे संतोष है कि हिंदी केवल राजभाषा ही हुई है, राष्ट्रभाषा का मैदान उर्दू के लिये अब भी साफ है—

"यह बात खूब याद रखनी चाहिए कि हिंदी सिर्फ सरकारी ज़बान मानी गई है। इसलिये क़ौमी जबान के इंतखाब का मैदान अभी तक खुला हुआ है।" इसके साथ हिंदुस्तानी-सेवकों की मनोवृत्ति को मिलाकर देखिए—

"...इसके संबंध में संमेलन इस स्पष्ट हकीकत की तरफ भी सबका ध्यान आकर्षित करना चाहता है कि जिस भाषा का राष्ट्रभाषा के तौर पर विकास करना है वह भाषा आज नागरी के अलावा फारसी या उर्दू लिपि में भी लिखी और पढ़ी जाती है।"...इस बात की ओर संमेलन सबका ध्यान खींचता है। "नहीं तो पूरा डर है कि राष्ट्रभाषा को सर्वग्राही और विशाल बनाने की जो मुराद रखी गई है वह सफल नहीं हो सकेगी।" (गुजरात हिंदुस्तानी प्रचारक संमेलन, ४-१२-४९, प्रस्ताव १)

इसमें भी 'हमारी जबान' बोल रही है। पर चित्रगुप्त की राय है कि यदि 'हमारी ज़बान' का लक्ष्य राष्ट्रभाषा-प्रचार हो तो वह अविलंब नागरी लिपि अपनाए, अन्यथा अपना नाम 'उर्दू' रख ले।

—चित्रगुप्त

समीक्षार्थ प्राप्त

अच्छी हिंदी का नमूना—लेखक श्री किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री; प्रकाशक जनवाणी प्रेस, ऐंड पब्लिकेशंस लि०, कलकत्ता। मूल्य २)

अछूत नहीं नहीं—लेखक श्री रतन बी० ए०, प्रकाशक अमर भारत इंडस्ट्रीज लि०, नई दिल्ली। मूल्य ॥≈)

ईशोपनिषद्—अनुवादक श्री मुंशीलाल गुप्त; प्रकाशक श्री खजानसिंह शर्मा मेरठ। मूल्य ।)

एक धर्मयुद्ध—लेखक श्री म० ह० देसाई; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य ॥।)

कर्म का रहस्य—लेखक श्री पी० एस० निवासराव; अनु० डाक्टर नंदकिशोर; प्रकाशक संसार लि०, काशी। मूल्य ॥।)

खून का प्यासा—लेखक श्री सन्यसांची और अरुणकुमार; अनु० श्री रमेशनंदनशरण; प्रकाशक देव साहित्य कुटीर, कलकत्ता। मूल्य १॥)

गीतगोविंद पद—लेखक श्री माधुरी जी; प्रकाशक बाबा कृष्णदास, पो० राधाकुंड, जिला मथुरा। मूल्य ।)

गीतगोविंद पद—ले० श्री रामराय; प्र० बाबा कृष्णदास, मथुरा। मूल्य ॥≈)

गीतगोविंद पद—ले० श्री वैष्णवदास; प्र० बाबा कृष्णदास, मथुरा। मूल्य ।)

गुप्त शक्तियाँ—लेखक तथा प्रकाशक श्री ज्ञानीदास, तारा कार्यालय, फीजी। मूल्य १॥)

गोसेवा—लेखक श्री मोहनदास करमचंद गांधी, प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य १॥)

ग्रामसेवा के दस कार्यक्रम—लेखक श्री जुगतराम दवे; प्रकाशन नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य ॥≈)

जड़मूल से क्रांति—लेखक श्री किशोरलाल मशरूवाला; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य १॥)

जीवन का सद्व्यय—अनु० हरिभाऊ उपाध्याय; प्रकाशक श्री नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य १)

जीवन शोधन—लेखक श्री किशोरलाल मशरूवाला; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य ३)

जो संतों ने कहा था—संकलयिता श्री जमुनालाल जैन; प्रकाशक श्री भारत जैन महामंडल, वर्धा। मूल्य ।)

ज्वालामुखी—लेखक श्री भागीरथ भास्कर; प्रकाशक महावीर रिलीफ सोसाइटी, इटावा। मूल्य १॥)

नागरिक न्यायविधि संग्रह—लेखक श्री राजकिशोर सरकार, मुंसिफ, फैजाबाद। मूल्य ८)

पन्ना धाय—लेखक श्री मुंशीलाल पटैरिया कश्यप; प्रकाशक मुंशी डोरीलाल भटनागर, झाँसी प्रेस, झाँसी। मूल्य ।)॥

प्यारे राजा बेटा—लेखक श्री ऋषभदास रांका; प्रकाशक श्री भारत जैन महामंडल, वर्धा। मूल्य १)

प्रपात—लेखक श्री भयंकर, प्रकाशक भयंकर काव्यकुटीर, मिर्जापुर। मूल्य १।)

भक्तिरसतरंगिणी—लेखक श्री नारायण भट्टाचार्य; प्रकाशक श्री कृष्णदास, मथुरा। मूल्य १)

भारतीय उपनिवेश फीजी—लेखक तथा प्रकाशक श्री ज्ञानी दास; तारा कार्यालय, फीजी। मूल्य १॥)

मानवधर्म मीमांसा—लेखक श्री किशोरीदास वाजपेयी; प्रकाशक जनवाणी प्रेस ऐंड पब्लिकेशंस लि०, कलकत्ता। मूल्य २।)

रागिनी—लेखक श्री व्रजेंद्रकुमार मधुकर; प्रकाशक हिंदी प्रचारिणी सभा, धारा नगरी, मारीशस। मूल्य ॥।)

रामनाम—लेखक श्री मोहनदास करमचंद गांधी, प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य ॥=)

राष्ट्रभाषा का सवाल—लेखक श्री जवाहरलाल नेहरू; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य ।=)

रोटी का स्वर्ग—लेखक श्री लक्ष्मीनारायण टंडन "प्रेमी", एम० ए०; प्रकाशक विद्यामंदिर, लखनऊ। मूल्य १)

वाणी—लेखक श्री वल्लभरसिक, प्रकाशक बाबा कृष्णदास, मथुरा, मूल्य ।=)

वीरांगना—लेखक श्री रामगोपाल शर्मा बी० ए० साहित्यरत्न; प्रकाशक अनूठा प्रकाशन, आगरा। मूल्य ॥)

वैशाली अभिनंदन ग्रंथ—संपादक श्री जे० सी० माथुर, आई० सी० एस० तथा श्री योगेंद्र मिश्र, एम० ए०; प्रकाशक वैशाली संघ, वैशाली, मुजफ्फरपुर (बिहार)। मूल्य १२)

संघर्ष और शांति—लेखक श्री स्वामी करपात्री जी; प्रकाशक धर्मसंघ शिक्षा-मंडल, काशी। मूल्य ३॥)

हमारी बा—लेखिका श्री वनमाला परीख तथा श्री सुशीला नय्यर; अनु० श्री काशीनाथ त्रिवेदी; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य २)

हरिलीला—लेखक श्री ब्रह्मगोपाल, प्रकाशक बाबा कृष्णदास, मथुरा। मूल्य ≈)

हिंदी दस्तावेज—लेखक श्री रामसुंदर कपूर, एम-एस० सी०, एल० एल० बी०, प्रकाशक पंडित पुस्तकालय, काशी। मूल्य ३)

विविध

अखिल भारतीय हिंदी परिषद्

२३ और २४ नवंबर को दिल्ली में डा० राजेंद्रप्रसाद की अध्यक्षता में अखिल भारतीय हिंदी परिषद् नाम की एक नवीन संस्था का प्रथम अधिवेशन संपन्न हुआ। अध्यक्ष ने अपने भाषण में ये विचार प्रकट किए--

राष्ट्रभाषा हिंदी ऐसी होनी चाहिए जो भारत की संयुक्त संस्कृति की पूरक बन सकती है। इसके लिये भारत की प्रचलित भाषाओं से प्रचलित शब्दों का तथा अन्य रूढ़ विदेशी शब्दों का इसमें अंतर्भाव होना चाहिए। इस तरह इसके शब्द-भंडार को बढ़ाना चाहिए। इसके लिये हम दक्षिण की भाषा से जितनी सहायता ले सकते हैं उतनी हमें लेनी चाहिए, क्योंकि दक्षिणियों का सवाल हमसे अधिक कठिन है। हिंदी ही उत्तर और दक्षिण के बीच में मजबूत पुल बाँधकर दोनों का संबंध दृढ़ बना सकेगी। इस तरह की भाषा तभी बनती है जब किसी भाषा के शब्द का बहिष्कार न हो। सभी इसे आसानी से सीख सकें, इसके लिये इसके व्याकरण में भी आवश्यक संशोधन हो। साथ ही हिंदीभाषी अन्य प्रांतों की भाषाएँ सीख लें जिससे उनकी भाषा में प्रचलित और रूढ़ शब्द प्रयुक्त होते रहें और हरएक शब्द का सर्वत्र एक ही अर्थ हो। राष्ट्रभाषा में ऐसे प्रामाणिक शब्दों का निर्माण जल्द ही हो जाना चाहिए जो कानून और विज्ञान जैसे कामों में अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों का स्थान ले सकें। ("हिंदुस्तानी प्रचार", दिसंबर '४९)

इस परिषद् के आयोजन का उद्देश्य था 'विधान परिषद् के प्रस्ताव के अनुसार उसीको प्रमाण मानकर अखिल भारतीय दृष्टि से राष्ट्रभाषा के कार्य को संगठित करने तथा उसके प्रसार और विकास का कार्य करने के लिये सरकारी नीति के अनुकूल योजना बनाना।' इस संस्था को 'केंद्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत विश्वविद्यालय जैसा पद' दिलाने का प्रस्ताव किया गया और इस संबंध में कार्य का अधिकार एक समिति को सौंपा गया जिसमें निम्नलिखित सदस्य हैं—

सर्वश्री डा० राजेंद्रप्रसाद, ग० व० मावलणकर (अध्यक्ष, संसद्), के० संथानम् (संचार मंत्री), रंगनाथ दिवाकर (मंत्री, व्योमवाणी विभाग), बालगंगाधर खेर (मुख्यमंत्री, मुंबई प्रदेश), गोविंदवल्लभ पंत (मुख्यमंत्री, उ० प्र०), घनश्यामसिंह गुप्त (अध्यक्ष, म० प्र० व्यवस्थापिका), स० का० पाटिल (मेयर, मुंबई), शंकरराव देव, मो० सत्यनारायण (परिषद् के संयोजक)।

परिषद् का उद्देश्य श्लाघ्य है और उसके अध्यक्ष का प्रत्येक वाक्य मननीय है। परंतु इसके संयोजन और उन्नयन के पीछे हिंदुस्तानी के सभी बड़े बड़े पुराने समर्थकों का हाथ होने से इसके संबंध में हिंदीसेवियों की आशंका भी स्वाभाविक है, विशेषत: जब कि ये समर्थक राष्ट्रभाषा के लिये अब भी 'हिंदुस्तानी' नाम तथा नागरी के साथ फारसी लिपि की आवश्यकता पर जोर देते और इनकी अस्वीकृति पर दु:ख प्रकट करते जा रहे हैं। तथापि हमें आशा करनी चाहिए कि डा० राजेंद्रप्रसाद के उत्तम नेतृत्व में यह संस्था देश के हिंदीसेवियों का सहयोग प्राप्त कर अपने नाम के अनुरूप देशहितकारी कार्य करेगी।

अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन

२४ से २७ दिसंबर तक हिंदी साहित्य सम्मेलन का छतीसवाँ अधिवेशन हैदराबाद में हुआ जिसके सभापति पं० चंद्रबली पांडे के भाषण का मुख्यांश 'चयन' में उद्धृत है। इसमें सोलह भिन्न भिन्न प्रस्ताव स्वीकृत हुए जिनमें से द्वितीय प्रस्ताव में संविधान परिषद् द्वारा देवनागरी लिपि में लिखी 'हिंदी' के 'देश की राष्ट्रभाषा' स्वीकृत होने पर संतोष, किंतु अंग्रेजी को 'पंद्रह वर्ष तक प्रभुत्व देने और केंद्रीय कामों के लिये नागरी लिपि में अंग्रेजी अंकों के मिश्रण' पर खेद प्रगट किया गया। सबसे मुख्य पंद्रहवाँ प्रस्ताव है जिसमें हिंदी विश्वविद्यालय को मान्यता और अधिकार दिए जाने की योजना करने के लिये एक विशेष समिति के निर्माण की व्यवस्था की गई।

निजाम के स्वच्छंद शासन में वहाँ की प्रजा के लाख प्रयत्न करने पर भी वहाँ सम्मेलन का अधिवेशन करने की अनुमति नहीं मिल सकी थी। अत: इस अधिवेशन में वहाँ के निवासियों में उनकी चिर अभिलाषा की पूर्ति के कारण विशेष उत्साह होना स्वाभाविक था। सुदूर दक्षिण में सम्मेलन का यह अधिवेशन, सम्मेलन के उद्देश्यों तथा हिंदी के 'भारतीत्व' के सर्वथा अनुरूप रहा।

राष्ट्रभाषा प्रमाणीकरण परिषद्

राष्ट्रभाषा हिंदी की उन्नति के लिये मध्यप्रदेशीय सरकार की ओर से सरकारी स्तर पर प्रयत्न किए जा रहे हैं। ४ से ६ जनवरी तक नागपुर में राष्ट्रभाषा के प्रमाणीकरण पर विचारार्थ तथा अविलंब निम्नलिखित कार्य करने के लिये एक परिषद् को आयोजना की गई—

(१) हिंदी का सुविस्तृत और प्रामाणिक कोष तैयार करना

(२) हिंदी व्याकरण को प्रामाणिक रूप देना

(३) हिंदी भाषा की वर्तनी को प्रामाणिक रूप देना।

(४) देवनागरी लिपि को प्रामाणिक रूप देना।

इन कार्यों के लिये अलग अलग समितियाँ बना दी गईं और संभवतः अ-सरकारी सहयोग भी प्राप्त करने का उद्योग किया गया है। हम इस परिषद् की सफलता की हृदय से कामना करते हैं।

क्या ही अच्छा होता यदि इसी प्रकार अखिल भारतीय स्तर पर यह कार्य केंद्रीय सरकार द्वारा किया जाता जिसमें सभी प्रांतीय सरकारों, प्रमुख संस्थाओं तथा प्रतिनिधि हिंदी विद्वानों का सहयोग होता।

अनुकूल प्रगति

पत्रिका के प्रस्तुत वर्षार्ध (श्रावण-पौष) में देश का सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करनेवाला विषय था स्वतंत्र भारत का संविधान, और उसमें भी सबसे अधिक हिंदी की राजभाषा रूप में स्वीकृति, जिस महान् ऐतिहासिक घटना का उल्लेख गत अंक में हो चुका है।*

इस स्वीकृति का देश ने जिस आनंदोल्लास से स्वागत किया तथा नेताओं, पत्र-पत्रिकाओं, संस्थाओं एवं जनसाधारण के भाषणों, लेखों, उत्सवों आदि में

* भाग ५४ अंक १ में संविधान के हिंदी संबंधी अंश का एक चलता अनुवाद प्रस्तुत किया गया था। उस समय सरकारी संविधान की हिंदी शब्दावली निश्चित नहीं हुई था। अब केंद्रीय सरकार से संविधान का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद प्रकाशित हो गया है।

जिस संयत और गंभीर वृत्ति का परिचय पाया गया वह निस्संदेह शुभ और उत्साहवर्धक है।

इस समय देश की सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ और स्थायी करने के लिये हिंदी को शीघ्रातिशीघ्र यथार्थ भारतभारती बनाने के पथ पर बढ़नेवाला प्रत्येक चरण हमारे विश्वास और आशा को बल देनेवाला है। संविधान के प्रादेशिक भाषाविषयक अनुच्छेद ३४५ और ३४६ (पत्रिका, गत अंक, पृ० ८०, अनु० ३०१ ग तथा घ) के संबंध में पिछले अंक (पृ० ८४) में हमने जो टीका की थी उसमें हमारी यह आशा निहित थी कि प्रादेशिक सरकारें नागरी हिंदी को राजभाषा स्वीकृत करने का शीघ्र संकल्प करेंगी, जिससे पाँच वर्षों के बाद ही ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाय कि हिंदी की अखिल भारतीय स्वीकृति को कार्यान्वित करने के लिये पंद्रह वर्षों की लंबी अवधि अनुचित तथा अनावश्यक ही सिद्ध हो। उत्तर प्रदेशीय शासन ने हिंदी को राजभाषा पहले ही स्वीकृत कर लिया था। यह संतोष का विषय है कि अब प्रांत की व्यवस्थापिका सभा में मूल विधेयक भी हिंदी में ही उपस्थित करने का निश्चय किया गया है। आशा है अन्य प्रदेशों में भी इस प्रकार का निश्चय शीघ्र होगा।

केंद्रीय शासन ने हिंदी में तार देने की सुविधा देकर कीर्तिकर कार्य किया है, परंतु इसके क्षेत्रों का अधिकाधिक विस्तार अपेक्षित है। व्योमवाणी विभाग भी अपनी परामर्शदात्री समिति के सदस्यों के त्यागपत्र देने के बाद अब 'हिंदुस्तानी में खबरें' सुनाने के स्थान पर 'हिंदी में समाचार' सुनाने लगा है।

प्रगति बहुत धीमी, परंतु अनुकूल है। स्थिति भी अनुकूल है, हमारी सर्वमुख सजगता और तत्परता से ही सफलता निकटतर आएगी।

—संपादक

सभा की प्रगति

(श्रावण-पौष, २००६)

सभासद तथा संबद्ध संस्थाएँ

इस अवधि में सभा के ४० नवीन सभासद हुए, ७ सभासद त्यागपत्र देकर पृथक् हो गए और ४ सभासदों का देहावसान हुआ। निम्नलिखित संस्थाओं ने अपना संबंध सभा से स्थापित किया—

१—ऊपरमाल हिंदी विद्यापीठ, बिजौलियां।

२—राष्ट्रीय पुस्तकालय, नवादा, चंपारन।

इस अवधि में पुस्तकालय ११८½ दिन और वाचनालय १५१½ दिन खुला रहा। पुस्तकालय में आनेवाले पाठकों की संख्या लगभग २०० प्रति दिन रही। अबतक ७१ नवीन साधारण सहायक हुए। कुछ सहायकों ने स्वयं संबंध-विच्छेद कर लिया। २१७ नवीन पुस्तकें क्रय की गईं, १६ पुस्तकें समीक्षार्थ और २४२ पुस्तकें उदार महानुभावों द्वारा भेंट में प्राप्त हुईं।

हिंदी भाषा और साहित्य की उन्नति के लिये अनुसंधानार्थ श्री विश्वनाथ मिश्र (प्रयाग), श्री चंद्रमोहन शर्मा (लखनऊ), श्री कांतिकेशी सिनहा (प्रयाग), श्रीसावित्री सिनहा (दिल्ली), डा० त्रिलोकीनाथ दीक्षित (लखनऊ) और श्रीगंगाबख्श सिंह ने पुस्तकालय का उपयोग किया।

कोश विभाग

सरकारी सहायता बंद हो जाने के कारण राजकीय कोश का कार्य १ आश्विन से बंद कर देना पड़ा। इस समय इस विभाग में मुख्यतः उत्तर-प्रदेशीय सरकार के विभिन्न विभागों में प्रयुक्त होनेवाले आकारपत्रों (फार्मों) तथा विधानों का हिंदी रूपांतर प्रस्तुत हो रहा था। जो कार्य हो चुका था एवं जो शेष था वह सब सरकार को सौंप दिया गया। पारिभाषिक शब्दावली तथा स्थानिक परिषद् शब्दावली पहले ही प्रकाशित हो चुकी थीं; राजकीय कोश जो छप रहा था, किंतु संप्रति उसकी छपाई रोक दी गई है।

प्रकाशन

इस अवधि में निम्नलिखित नवीन पुस्तकें प्रकाशित हुईं—

१—रस-मीमांसा, ले० स्व० आचार्य रामचंद्र शुक्ल।

२—नंददास ग्रंथावली, संपादक श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल० एल० बी०।

३—सूर्य-सारिणी, संपा० डा० गोरखप्रसाद।

लंकादहन, भारतेंदुग्रंथावली खंड ३, तथा हिंदी की गद्य शैली का विकास (परिवर्द्धित संशोधित) प्रेसों में हैं इनके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार पूर्व-प्रकाशित पुस्तकों का पुनर्मुद्रण भी होता रहा।

ग्रंथ-निर्माण और प्रकाशन के लिये निम्नलिखित त्रैवार्षिक योजना स्वीकार की गई है—

१—आधुनिक कवि के ढंग के ग्रंथ।

२—नाट्य साहित्य के शास्त्रीय एवं विवेचनात्मक ग्रंथ।

३—अर्थशास्त्र के ग्रंथ।

४—साहित्य का इतिहास—

क—आचार्य शुक्ल के बाद वाले काल का इतिहास।

ख—नवीन शोध के अनुसार संपूर्ण इतिहास।

५—भारत का सांस्कृतिक इतिहास।

६—हिंदी भाषा का नवीन व्याकरण।

७—अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के उपन्यासों का हिंदी रूपांतर।

८—श्रेष्ठ विदेशी कहानियों का संग्रह।

९—अन्यान्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का इतिहास।

१०—हिंदी शब्दसागर का संशोधित संस्करण।

११—संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर का संशोधित संस्करण।

१२—कन्साइज आक्सफोर्ड डिक्शनरी का हिंदी रूपांतर।

उपर्युक्त योजना के अनुसार हिंदी साहित्य का आधुनिक इतिहास प्रस्तुत करने के लिये अधिकारी विद्वानों का निश्चय हो चुका है। नवीन हिंदी व्याकरण प्रस्तुत करने के लिये विद्वन्मंडल तथा परामर्शदात्री समिति का संगठन कर लिया गया है तथा कन्साइज आक्सफोर्ड डिक्शनरी का हिंदी रूपांतर भी आरंभ हो गया है। इतना कार्य हो चुकने पर योजना के शेष कार्यों में हाथ लगाया जायगा।

प्रसाद साहित्य-गोष्ठी तथा सुबोध व्याख्यानमाला

इसके अंतर्गत १६ श्रावण को गोस्वामी तुलसीदास की जयंती मनाई गई। ९ भाद्रपद को काशीवासियों की एक सार्वजनिक सभा आमंत्रित की गई जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव सर्वसंमति से स्वीकृत हुए—

"काशी-वासियों की यह सभा विधान परिषद् की प्रारूप समिति द्वारा प्रस्तुत राष्ट्र-भाषा संबंधी प्रस्ताव के इस मत से कि युक्तप्रांत में हिंदी के साथ और दूसरी भाषाएँ भी प्रांत की राजभाषा मानी जायँ, घोर विरोध करती है। प्रच्छन्न रूप से इसका अभिप्राय उर्दू का प्रवेश ही जान पड़ता है। इस सभा के मत से इस प्रांत की राजभाषा हिंदी ही हो सकती है।

"यह सभा उस प्रयत्न का भी घोर विरोध करती है जिसके द्वारा अंतर्राष्ट्रीय अंक लेखन पद्धति भारत पर लादी जा रही है। जो वर्तमान नागरी अंक हैं उन्हीं का प्रचलन यहाँ आवश्यक है।"

२२ आश्विन को श्री पद्मनारायण आचार्य का 'श्री अरविंद का संदेश—एक परिचय' विषयक व्याख्यान हुआ।

रविवार १३ कार्तिक को श्रीमन्महाराज विभूतिनारायण सिंह के सभापतित्व में राष्ट्र-भाषा दिवस मनाया गया जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव सर्वसंमति से स्वीकृत हुए—

"काशीवासियों की यह सभा भारतीय विधान परिषद् को, माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टंडनजी को तथा उनके अन्य सहयोगियों को हिंदी-नागरी को भारत की राजभाषा और राज-लिपि स्वीकृत किए जाने पर हार्दिक धन्यवाद और बधाई देती है।

"काशीवासियों की यह सभा विधान-परिषद् से यह आग्रह करती है कि हिंदी-नागरी को राजकाज में प्रयुक्त करने के लिये जो १५ वर्ष की अवधि निर्धारित की गई है वह अत्यधिक और अनावश्यक है अतएव उसमें अविलंब पर्याप्त कमी की जाय।

"काशीवासियों की यह सभा भारत-सरकार से यह जोरदार माँग करती है कि वह रेडियो विभाग द्वारा हिंदी के प्रति जिस विरोधी नीति का परिचय अब भी मिलता चला आ रहा है उसकी तत्काल समाप्ति की यथोचित व्यवस्था करे और हिंदी को रेडियो विभाग में यथोचित प्रतिष्ठा दी जाय।

"काशीवासियों की यह सभा हिंदी की जनता और विद्वानों से यह आग्रहपूर्ण अनुरोध करती है कि हिंदी-नागरी पर राजभाषा और राजलिपि का जो उत्तरदायित्व आया है उसकी सम्यक् पूर्ति के लिये ऐसे ग्रंथों की रचना शीघ्र करें जिनकी आवश्यकता है तथा हिंदी-नागरी की अनिर्णीत समस्याओं के ऐसे समाधान शीघ्र करें जो व्यवहारतः सर्वमान्य हों।"

हिंदी साहित्य सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा के विद्यार्थियों के लाभार्थ निम्नलिखित व्याख्यान हुए —

क्रमांक	व्याख्याता	व्याख्यान का विषय
१	श्री पद्मनारायण आचार्य	हिंदी के संत कवि
२	डा० श्रीकृष्णलाल	हिंदी का कथा-साहित्य
३	श्री ब्रजरत्नदास	हिंदी का नाट्य साहित्य
४	श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव	आदर्श और यथार्थ
५	श्री करुणापति त्रिपाठी	भाषा-विज्ञान
६	श्री डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा	हिंदी के गद्य साहित्य का विकास

हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज का कार्य संप्रति लखनऊ और बस्ती जिलों में हो रहा है। वैशाख-माघ सं० २००६ का कार्यविवरण सभा के वार्षिक विवरण में प्रकाशित होगा।

—सहायक मंत्री

नंददास-ग्रंथावली

(संपादक—श्री व्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०)

अष्टछाप के कवियों में नंददासजी का स्थान उनकी प्रेम-भक्ति की साधना और काव्यसौष्ठव के कारण बहुत ऊँचा है। इस संग्रह में उनके समस्त उपलब्ध ग्रंथों का प्रामाणिक पाठ, आवश्यक पाद टिप्पणियों सहित दिया गया है। आरंभ में लगभग १५० पृष्ठों की विशद प्रस्तावना, अब तक हुए शोध एवं महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित सामग्री के आधार पर लिखी कवि की जीवनी तथा उनकी सगुणोपासना की विस्तृत व्याख्या के साथ उनकी प्रत्येक रचना का समीक्षात्मक परिचय दे दिया गया है। मूल्य ५)

वीर सेवा मन्दिर
पुस्तकालय
काल नं०
लेखक
शीर्षक नागरीप्रचारिणी पत्रिका
वर्ष २४, अंक २ क्रम संख्या २५६६

(

गोस्वामी ... । संस्करण
निकल चुके हैं, कि... पाठ की
आकांक्षा पूर्ति न... । प्रस्तुत
संस्करण के संपा... ० १७६२,
छकनलाल, रघु... ाजापुर
आदि की प्रति... हायता
लेकर अत्यंत ... ानस-
प्रेमियों एवं ... है।
इसका मूल्य ...

गोसा... ीमतं"
कहकर अपनी ... नाओं
में आदि से अ... करके
विद्वान् लेखक... संगात्
प्रारंभिक काल... थ की
धारावाहिक ... है।
मूल्य प्रति भा...

रस-मीमांसा

(लेखक—स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल)

इसमें लेखक ने आधुनिक जिज्ञासा को दृष्टि में रखकर रस का विवेचन किया है। ग्रंथ में प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र और नवीन पश्चिमी मनोविज्ञान की पूरी छानबीन के साथ रस एवं भाव का निरूपण हुआ है। पंडितराज जगन्नाथ के बाद से शास्त्राभ्यासियों ने एक प्रकार से रस-मीमांसा करनी छोड़ दी थी। अतः भारतीय रीतिशास्त्र में आचार्य के इस ग्रंथ का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। इसमें काव्य, विभाव, रस भाव, और शब्दशक्ति नामक ५ खंड हैं जिनके अंतर्गत १० अध्यायों में काव्यगत रस की सभी दृष्टियों से सम्यक् विवेचना की गई है। यह वही ग्रंथ है जिसके सैद्धांतिक मानदंड से सूर, तुलसी, जायसी आदि कवियों की विशद और हिंदी साहित्य की सामान्य स्वरूपबोधक समीक्षा आचार्य ने प्रस्तुत की है तथा जिसकी प्रतीक्षा हिंदी-जगत् बहुत दिनों से कर रहा था। यह ग्रंथ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। मूल्य ७)

सूरसागर भाग १ (सस्ता संस्करण)

(संपादक—श्री नंददुलारे वाजपेयी)

गोलोकवासी स्वर्गीय श्रीजगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा संगृहीत और प्रदत्त सामग्री के आधार पर लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की एक समिति के तत्वावधान में इस ग्रंथ का संपादन अत्यंत कठोर परिश्रम और द्रव्य व्यय करके कराया गया है। सूर-सागर का जो बृहत् संस्करण प्रकाशित हो रहा था वह वर्तमान स्थिति में अत्यधिक व्ययसाध्य होने के कारण स्थगित कर देना पड़ा। इस सस्ते संस्करण में पाठ भेद के अतिरिक्त सभी विशेषताएँ अक्षुण्ण रखी गई हैं। पाठ की शुद्धता और प्रामाणिकता की दृष्टि से यह संस्करण अब तक छपे समस्त संस्करणों में श्रेष्ठ है। यह दो भागों में पूर्ण होगा। इसके पहले भाग में २३६७ पद हैं जिसमें दशम स्कंध के अंतर्गत दानलीला [illegible] आया है। दूसरा भाग भी आधे से ऊपर छप चुका है और शेषांश छप [illegible] पूरा होगा। लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का जैसा विशद और पूर्ण गान महात्मा सूरदास जी ने किया है वैसा अन्य किसी से भी अब तक नहीं बन पड़ा। भक्ति, साहित्य और संगीत की इस त्रिवेणी में अवगाहन करना प्रत्येक हिंदीप्रेमी का कर्त्तव्य है। प्रथम भाग का मूल्य १०) है।

मुद्रक—वासुदेव आर्यभूषण प्रेस, ब्रह्मघाट, बनारस सिटी।